प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय, मन्त्री,
सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

मुद्र
देवीप्रसाद शम
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रे
नई दिल्ल

लेखक की ओर से

"हमारी सारी शिक्षा व्यर्थ है, हमारी पाठशालाओ, विद्यालयो आदि पर जो कुछ व्यय किया जारहा है; हम अक्षर-ज्ञान में जो अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं, वह सब व्यर्थ है, जबतक कि हमें अपने साधारण नागरिक कर्त्तव्यो और अधिकारो की शिक्षा नहीं दी जाती। शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य यही है कि व्यक्ति अपने को अपने लिए, अपने कुटम्ब के लिए, अपने समाज के लिए यथासभव उपयोगी बना सके और समाज में अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त कर सके। सच्चा नागरिक ही वास्तविक शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति है। मेरी तो यही आशा है, आकाक्षा है, यही अभिलाषा है। मैं तो उस दिन की उत्कण्ठा से प्रतीक्षा कर रहा हूँ जब हमारे देश में सच्चे नागरिको, वास्तव में कार्यकुशल नर-नारियो की हर प्रकार के कार्य में इतनी बहुतायत होगी कि हम सच्ची स्वतत्रता प्राप्त कर उसे निबाह सकेंगे, उसे स्थापित कर सकेंगे और अपने देश में उसी प्रकार से आत्मसम्मान-युक्त, स्वतत्र-पुरुषोचित जीवन व्यतीत कर सकेंगे, जैसा अन्य देशो के स्त्री पुरुष कर रहे हैं।"

काशी के सुप्रसिद्ध कर्मशील विद्वान् श्री श्रीप्रकाश एम एल ए. ने अपने एक लेख के अन्त मे उपर्युक्त विचार प्रकट किये हैं। वास्तव मे शिक्षा उस समय तक व्यर्थ है जबतक कि वह व्यक्ति को एक उपयोगी श्रेष्ठ नागरिक नही बनाती।

आज हम बडे गौरव के साथ यह कहते हैं कि आर्य-सस्कृति सर्वोत्कृष्ट है, आर्य-धर्म तथा आर्य-सभ्यता सर्वश्रेष्ठ है। हम अपने ऐतिहासिक अतीत पर गर्व करते हैं। यह सब ठीक है और इसमे तनिक भी सन्देह नही कि गौरवमय अतीत उज्वल भविष्य के लिए स्फूर्ति और बल प्रदान करता है। परन्तु जब हम अपने नागरिक जीवन पर दृष्टि डालते है तो हमे घोर निराशा होती है यद्यपि जैसे-जैसे हमारे देश मे राष्ट्रीय नवचेतना बढती जाती है, वैसे-वैसे हमारे नेताओ मे

नागरिक-जीवन के सर्वतोमुख सुधार के लिए तीव्र अभिलाषा तथा चेष्टा भी स्पष्ट दीख पड़ती हैं।

ससार का इतिहास यह बतलाता है कि किसी देश ने अपनी जो उन्नति की उसका श्रेय वहाँके नागरिको के श्रेष्ठ और उच्चतम नागरिक-जीवन को ही रहा है। किसी देश मे किसी महात्मा या महान् उन्नायक के जन्म लेने मात्र से ही राष्ट्र मे जीवन का सचार नहीं होने लगता। इसके लिए तो समूचे राष्ट्र की आत्मा में चेतना की आवश्यकता होती है। प्रत्येक देश मे महान् धार्मिक तथा राजनीतिक नेता तथा महापुरुष पैदा हुए हैं, परन्तु वास्तव मे उन्नति उन देशो ने ही की है जिनकी जनता ने बहु-सख्यक श्रेष्ठ नागरिको को जन्म दिया।

नागरिक-जीवन को श्रेष्ठ बनाने की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या हमारे देश के सामने भी है। अभीतक हमारी शिक्षा-प्रणाली में इस महत्त्वपूर्ण अग की उपेक्षा की गयी है। नागरिक-शास्त्र के ज्ञान के लिए कोई व्यावहारिक शिक्षा का प्रबध हमारे विद्यालयो व विश्व-विद्यालयो मे नही किया गया। हमारी शिक्षा-सस्थाओ में नागरिक शास्त्र (Civics) की सामान्य शिक्षा का प्रबन्ध तो है, पर वह पहले तो प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अनिवार्य विषय नहीं है और जो है उससे उसे कोई उपयोगी व्यावहारिक लाभ नही मिलता। विद्यार्थियो को नागरिक-शास्त्र की केवल सैद्धान्तिक शिक्षा दी जाती है जिसमे वे अपने जीवन मे न कोई लाभ उठा सकते है और न वास्तविक भारतीय सास्कृतिक एव नागरिक जीवन से ही परिचय प्राप्त कर सकते है।

ससारभर के शिक्षा-विशारद इससे सहमत है कि शिक्षा ही समाज के पुर्निर्माण का आधार है। अत हमें भारतीय शिक्षा-प्रणाली मे ऐसे सुधार करने चाहिएं जिसमे हमारे भावी नर-नारियो मे अपनी सस्कृति, अपने आदर्शों, अपने विचारो एव अपनी जीवनप्रणाली के प्रति अनुराग एव श्रद्धा का भाव उदय हो और वे वास्तविक अर्थ मे सच्चे उपयोगी नागरिक बन सकें। सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के शब्दो में 'हमारा एक उद्देश्य यह होना चाहिए कि हम भारत को सयुक्त, शान्त और

गौरवपूर्ण देखें जिसमें हमें जीवन का एक नवीन दृश्य देखने को मिले। हमें आर्थिक न्याय, सामाजिक समता तथा राजनीतिक स्वाधीनता के महान् आदर्शों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।'

आज के युग मे विज्ञान तथा वैज्ञानिक आविष्कारो के चमत्कारो ने सारे ससार को एक परिवार बना दिया है। आज हमने इनके प्रताप से समय तथा दूरी पर आश्चर्यजनक विजय प्राप्त करली है। इसलिए इस युग मे हमारी नागरिकता केवल नगर या राष्ट्र तक ही परिमित नही रह सकती। वास्तव मे मानव-सस्कृति का लक्ष्य तो मानव-एकता है। इसलिए मैंने इस पुस्तक में नागरिकता पर व्यापक दृष्टि से विचार किया है और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता का नागरिक-जीवन से जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसकी ओर पाठको का ध्यान आकर्षित करने के साथ-साथ नागरिकता के सिद्धान्तो की मीमासा करते हुए नागरिक-जीवन के पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, सास्कृतिक, राजनीतिक आदि सभी पहलुओ पर सविस्तर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

आर्य सस्कृति ही ससार की सबसे प्राचीन तथा महान् सस्कृति है। अन्य सस्कृतियाँ इससे पैदा हुई है अथवा इसके विकृत रूप है। भारत मे हिन्दू सस्कृति के रूप मे यह सस्कृति आज भी विद्यमान है। परन्तु आज भारत मे 'मुस्लिम सस्कृति' का भी अस्तित्व है। मै इन दोनो सस्कृतियो को एक तो नही मानता क्योकि दोनो मे भारी मौलिक भेद है, तो भी मै भारत मे सास्कृतिक एकता का समर्थक हूँ क्योकि इस प्रकार के प्रयास से ही हमारे नागरिक-जीवन मे समन्वय और सहकारिता की भावना जाग उठेगी और उनसे समूचे राष्ट्र का कल्याण होगा।

'सास्कृतिक-जीवन' अध्याय बडा होगया है। वह इस पुस्तक का मेरु-दण्ड है। इसके अन्तर्गत शिक्षा, भाषा, राष्ट्रभाषा, लिपि, साहित्य कला और सस्कृतियो पर विचार किया गया है। जहाँ भारतीय साहित्य एव कला के विषय मे विवेचन है, वहाँ मेरा अभिप्राय उनकी विशेषताओ तथा आदर्शों एव विचारधाराओ पर ही प्रकाश डालना रहा है। मैंने भारतीय साहित्य तथा प्रान्तीय भाषाओ का क्रम-बद्ध

भारतीय संस्कृति
और
नागरिक जीवन

: १ :

विषय-प्रवेश

समाज ऐसे व्यक्तियो का समूह है, जिन्होने व्यक्तिगत हितो की सार्वजनिक रक्षा के लिए, सार्वजनिक व्यवहार मे समता उत्पन्न करने-वाले कुछ सामान्य नियमो से शासित होने का समझौता कर लिया है। प्रत्येक व्यक्ति मे व्यक्तिगत विशेषताएँ होती है। इसी प्रकार समाज की भी विशेषताएँ होती है। समाज मे व्यक्ति इन दोनो—व्यक्तिगत एव समाजगत—विशेषताओ की रक्षा के लिए नियम बनाते है। समाज की प्रारम्भिक अवस्था मे ये नियम अत्यन्त स्थूल और सामान्य होते है और जैसे-जैसे समाज विकसित और प्रगतिशील होता जाता है, वैसे-वैसे सामाजिक नियम अत्यन्त विस्तृत, विशद और जटिल होते जाते है। मानव-समाज का ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन करने से यह कथन भली भाँति प्रमाणित होता है।

अनेक भारतीय और यूरोपीय राजनीति-विज्ञान-विशारदो का यह मत है कि राज्य की उत्पत्ति से पहले समाज मे अराजकता थी। समाज मे न्याय और व्यवस्था के स्थान मे शक्ति का शासन था। शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति दुर्बल व्यक्तियो का दमन करते थे। इसलिए इस दशा से तग आकर सबने इकट्ठे होकर समझौता किया और उसके फलस्वरूप राज्य की उत्पत्ति हुई। यह सामाजिक समझौता ही राज्य की उत्पत्ति का मूल है। मध्यकालीन यूरोपीय विचारक हॉब्स के अनुसार भी राज्य की उत्पत्ति से पूर्व अराजक दशा थी। हॉब्स के कथनानुसार इस अराजक दशा मे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से निरन्तर लडा करता था। यह निरन्तर सघर्ष की दशा थी। सब एक-दूसरे पर सन्देह और अविश्वास करते थे। जिस तरह गुस्सैल भेडिये एक-दूसरे को मार खाने के लिए एक-दूसरे पर झपटते रहते है उसी तरह मनुष्य भी आपस मे एक-दूसरे का विनाश करने के लिए सघर्ष करते रहते थे। उस समय न्याय-अन्याय और

उचित-अनुचित मे कोई भेद नही था। उस समय शरीर-बल ही सब-कुछ था। महाभारत मे अनेक स्थलो पर राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे इस प्रकार के विचार मिलते हैं

"अराजक राष्ट्रो में धर्म स्थिर नहीं रह सकता। अराजक अवस्था में लोग एक-दूसरे को खा जाते हैं। अराजक दशा में पापी लोग दूसरो का धन छीनने ही में आनन्द अनुभव करते हैं। पर जब दूसरे लोग इन पापियो को लूटने लगते है, तब इन्हे राजा की आवश्यकता होती है। इस भयकर दशा में पापियो का भी तो भला नहीं होता, क्योंकि दो मिलकर एक को लूट खाते हैं और बहुत-से मिलकर दो को लूट लेते हैं। जो दास नहीं है, अराजक दशा में उन्हे दास बना लिया जाता है और स्त्रियो का बलपूर्वक अपहरण किया जाता है।

प्राचीन भारतीय विद्वान धर्म की स्थिति के लिए राजा को अनिवार्य समझते थे। यह पहले कहा जा चुका है कि अराजक दशा मे धर्म नही रह सकता। धर्म तथा सामान्य जीवन भी राजा के बिना नही रह सकता। प्राणियो का उत्पत्ति-क्रम जारी रखने के लिए राजा चाहिए ही। धर्म, अर्थ, काम—इस त्रिवर्ग की प्राप्ति राज्य के बिना नही हो सकती।[१] मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह किसी नियामक के बिना नियत्रण मे रह ही नही सकता। समाज मे जहाँ कही भी सुव्यवस्था दृष्टिगोचर होती है, उसका कारण नियामक की सत्ता है। यदि मनुष्य सामाजिक मर्यादाओ एव बन्धनो के अधीन न रहे, तो उसकी स्वच्छदता के फल-स्वरूप फिर अराजक दशा उत्पन्न हो जायगी। इस नियामक सत्ता के लिए महाभारत के शान्ति-पर्व तथा अन्य राज्य-विज्ञान के ग्रन्थो मे 'दण्ड' शब्द का प्रयोग किया गया है

"मनुष्य कहीं सम्मोह में पडकर नष्ट न हो जायें, सम्पत्ति की रक्षा की जा सके, इसके लिए कोई मर्यादा चाहिए। इसी मर्यादा का नाम दण्ड है।"[२]

---

१. महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय १५, श्लोक ३
२ " " " १५, श्लोक १०

महाभारत मे मानव-स्वभाव के सम्बन्ध मे लिखा है—

"वह (मनुष्य) यदि यज्ञ करता है या दूसरे की भलाई करता है, तो केवल दण्ड के भय से। यदि वह दान करता है, तो केवल दण्ड के भय से। मनुष्य जो ठीक रास्ते पर चलता है, अपने व्यवहार को स्थिर रखता है उसका एक मात्र कारण दण्ड है।"[1]

इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति हुई। भारतीय विचारको के मतानुसार राजा ही धर्म, अर्थ, काम की उत्पत्ति का मूलाधार है। प्राचीन काल मे राजा की इस महत्ता के कारण ही कुछ विचारको ने राजा मे दैवी शक्ति की कल्पना की। पद्म-पुराण मे लिखा है—' राजा नारायण या परमेश्वर के अश से उत्पन्न हुआ है, वह किसी भी अवस्था में मनुष्य नहीं है।"[2]

यूरोप मे मध्यकाल मे यूरोपीय विचारक तथा राजा राज्य की उत्पत्ति के ईश्वरीय या दैवी अधिकार मे विश्वास करते थे। इस मत का पूर्ण विकास इग्लैण्ड मे स्टुअर्ट शासको और फ्रास मे चौदहवे लुई के समय मे हुआ। चौदहवाँ लुई बडे गर्व के साथ कहा करता था—'मै राजा हूँ। मेरी इच्छा राज्य की इच्छा है। मेरी आज्ञा राज्य का कानून है।' इसी सिद्धान्त के आधार पर इग्लैण्ड के राजा चार्ल्स प्रथम और जेम्स अपने विरुद्ध आन्दोलन करनेवालो को ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध आन्दोलन करने का अपराधी समझकर दण्ड दिया करते थे।

यद्यपि भारतवर्ष मे राज्य का दैवी सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन काल मे प्रचलित था, तथापि उसका इतना विकास नही हुआ था। वैदिक काल मे राजा को ईश्वर या ईश्वर का प्रतिनिधि नही समझा जाता था। भारत मे कुछ मध्यकालीन विचारको ने राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि राज्य की उत्पत्ति का कारण यह था कि व्यक्ति पारस्परिक लूटमार,

---

१. महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय १५, श्लोक १२-१३

२. बालोऽपि नावमतव्यो मनुष्य इति भूमिप।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥

अन्याय और अव्यवस्था के परिणामस्वरूप दुखी थे, अत उन्होने इकट्ठे होकर यह निश्चय किया कि समाज मे नियम और मर्यादा द्वारा शांति और सुव्यवस्था की प्रतिष्ठा के लिए राज्य की स्थापना की जाये।

राज्य के आवश्यक अग

'राज्य' शब्द एक निश्चित प्रदेश मे वैध ढग से ऐसी सुव्यवस्थित प्रजा का बोधक है जिसकी सख्या चाहे कम हो या अधिक, पर जो स्थायी रूप से उस प्रदेश मे रहनेवाली हो और बाह्य नियत्रण से मुक्त हो। साथ ही जिसका अपना शासन हो और जो स्वभावत उसकी आज्ञा-पालक भी हो। राज्य के प्रमुख अग निम्नलिखित है—

१ **प्रजा**—यह राज्य का प्रमुख और अनिवार्य अग है। प्रजा के अभाव मे राज्य की कल्पना सम्भव नही, पर राज्य के लिए प्रजा की सख्या निर्धारित नही है। प्राचीन युग में रोम और यूनान मे नगर-राज्य थे। परन्तु जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया, युद्धो का भय अधिकाधिक बढता गया तथा नवीन-नूतन आविष्कारो की वृद्धि होती गयी, वैसे-वैसे राज्य बडे-बडे होने गये और एक-एक राज्य मे ३०-३० और ४०-४० करोड की प्रजा रहने लगी।

२ **भू-खण्ड**—प्रजा की तरह भू-खण्ड—निश्चित भू-खण्ड भी आवश्यक अग है। भू-खण्ड के बिना भी राज्य की कल्पना सम्भव नही। यदि कोई जन-समुदाय समाज द्वारा निर्धारित नियमो का पालन करे भी और उसका एक प्रमुख भी हो, परन्तु यदि वह एक निश्चित भू-खण्ड मे स्थायी रूप से निवास न करे तो वह राज्य का निर्माण नही कर सकता। जन-समुदाय राज्य का निर्माण उसी दशा में कर सकता है, जब कि वह किसी प्रदेश मे स्थायी रूप से निवास करता हो। यह भू-खण्ड ऐसा होना चाहिए कि जिसपर किसी बाहरी सत्ता का अधिकार या नियन्त्रण न हो।

३. **हित-एकता**—राज्य के निर्माण के लिए एक निर्दिष्ट भूखण्ड पर रहनेवाली प्रजा मे हितो की एकता का होना भी आवश्यक है। भाषा, संस्कृति, इतिहास और धर्म की दृष्टि से उनमे सामजस्य होना जरूरी

है। जिस राज्य की प्रजा मे स्वाभाविक रूप से धार्मिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एव भाषा-सम्बन्धी एकता एव सामंजस्य नही होता, उस राज्य मे सामाजिक शान्ति स्थायी नही रहती। जातीय एकता भी अत्यन्त आवश्यक है। राज्य की जनता मे जाति, धर्म, सभ्यता, संस्कृति और भाषा-सम्बन्धी भेद-भाव ऐसे न हो जो राज्य-शासन और सामाजिक जीवन में अव्यवस्था और अशान्ति पैदा कर दे।

४ **शासन**—शासन भी राज्य का प्रमुख अग है। यदि किसी निश्चित प्रदेश मे जनता स्थायी रूप मे रहती है और उसमे पारस्परिक एकता भी है परन्तु यदि वह किसी शासन के अधीन नही है, तो वह राज्य नही कहला सकती। शासन के अभाव मे प्रजा के ऐसे संगठन धार्मिक, आर्थिक या साम्प्रदायिक ही हो सकते है—राजनीतिक नही हो सकते।

५ **प्रभुता**—प्रभुता भी राज्य का प्रमुख और आवश्यक अग है। प्रभुता का अर्थ यह है कि वह निर्दिष्ट प्रदेश जिसपर प्रजा स्थायी रूप से रहती है, और जिसका अपना शासन है, वह किसी बाह्य सत्ता के नियन्त्रण मे न हो। स्वाधीनता के बिना कोई ऐसा प्रदेश राज्य नही कहला सकता। उदाहरण के लिए, भारतवर्ष मे सन् १९३१ की जन-गणना के अनुसार ३५ करोड जन है। परन्तु भारत का शासन और प्रभुता भारतीय प्रजा के हाथ मे नही है। इसीलिए राजनीतिक परिभाषा मे भारत राज्य नही है।

राज्य और शासन मे अन्तर

उपर्युक्त विवेचन मे राज्य और शासन का अतर स्पष्ट है। सामान्यतया राज्य और शासन को पर्याय या समानार्थक माना जाता है। परन्तु ऐसी धारणा गलत है। राजनीतिक भाषा मे राज्य और शासन मे बडा भारी अतर है। राज्य एक राजनीतिक समुदाय है और शासन उसका एक अग है। देश के सभी निवासी सामान्यतया राज्य के सदस्य होते है, परन्तु शासन-यत्र का सचालन अल्प-सख्यक प्रजा के हाथ मे होता है। यह तो सभव

है कि किसी राज्य की शासन-नीति मे परिवर्तन करना समस्त जनता के हाथ मे हो, परन्तु उस नीति के अनुसार शासन-प्रबन्ध का कार्य एक विशिष्ट वर्ग के हाथ मे होता है। शासन मे परिवर्तन होते रहते हैं, एक शासन का स्थान दूसरा शासन लेता है। परन्तु राज्य मे परिवर्तन नहीं होता वह स्थायी रूप से वैसा ही रहता है। शासन राज्य का अंग है और राज्य की सुव्यवस्था के लिए शासन अनिवार्य है। यही कारण है कि शासन का महत्त्व राज्य से अधिक है।

राज्य और नागरिक

राज्य के सदस्य को नागरिक कहा जाता है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के राजनीति के प्रोफेसर डा० श्री बेणीप्रसाद के मतानुसार प्राचीनकाल मे रोम-निवासी अधिकारो को ही नागरिकता समझते थे। जब रोम का साम्राज्य बढा तब नागरिकता की नयी श्रेणियाँ हो गयीं। सबसे नीचे दर्जे की श्रेणी वह थी जिसमें लोगो को केवल दो-चार इने-गिने नागरिक-अधिकार ही प्राप्त थे और सबसे ऊँची श्रेणी वह थी जिसमे लोगो को सभी नागरिक और सभी राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे। वहाँ नागरिकता शब्द ही प्रचलित था, क्योंकि एथेन्स तथा अन्य यूनानी बस्तियो की तरह रोम भी पहले-पहल वास्तव में एक नगर-राज्य ही था। अधिकारो का सबंध, सिद्धान्त और व्यवहार दोनो मे पहले केवल नागरिकों मे था। बाद मे एकान्तरूप से नागरिको के साथ उनका सबध केवल सिद्धान्त में ही रह गया। सिर्फ नगर मे निवास करना ही नागरिकता की योग्यता थी। जो नगर मे रहता था वही नागरिक कहलाता था। बाद को उसका यह अर्थ नहीं रह गया। नागरिकता का सम्बन्ध मुख्यतः अधिकारों ही से रह गया। जो लोग नगर मे रहते लेकिन अधिकारों से वंचित होते थे, वे नागरिक नहीं कहलाते थे। उदाहरणस्वरूप गुलाम नागरिक नहीं थे, यद्यपि कई पीढ़ियों तक उन्होंने नगर में निवास किया था। इसके विपरीत वे लोग, जो असल में नगर के अन्दर भी निवास नहीं करते थे, लेकिन नगर के सदस्य माने जाते और अधिकार-

[ह]ान होते थे, नागरिक कहलाते थे।[1]

रोम और यूनान के नगर-राज्यो के निवासियो को 'नागरिक' कहा [ज]ाता था। उस समय नागरिकता से अभिप्राय नागरिक के अधिकारो [स]े होता था और आधुनिक समय मे भी नागरिकता से यही अभिप्राय है। [प]रन्तु आधुनिक युग मे नगर-राज्य नही है। उनके स्थान पर राष्ट्र-[र]ाज्य है। कालान्तर मे नागरिकता की भावना मे भी परिवर्तन हो गया [है]। नागरिकता का उदय रोम के छोटे-से नगर-राज्य मे हुआ, परन्तु आधु-[नि]क युग मे वह समग्र देश-राज्य और राष्ट्र-राज्य मे व्याप्त हो गयी है। [प्र]त्येक नागरिक, चाहे वह नगर-निवासी हो चाहे ग्राम-निवासी, समानरूप [स]े नागरिक अधिकारो का उपभोग कर सकता है।

प्रोफेसर डा० बेनीप्रसाद का यह मत है कि

"अधिकारो के लिहाज से ग्रामवासी भी उसी प्रकार नागरिक है जिस प्रकार शहरवाले। यह बात जरूर है कि नगर राजनीतिक जीवन, धन, सभ्यता और सस्कृति के केन्द्र है, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि शहरवालो के हित के आगे हम गांववालो के हित का विचार न करें। ग्रामवासियो के हित को नगर-वासियो के हित के अधीन करना उचित नही है। दोनो के हितो पर बराबर ध्यान रखना चाहिए। इसी प्रकार सबसे काम करने की आशा भी करनी चाहिए। व्यवसाय,सम्पत्ति-रक्षा, न्याय, कौटुम्बिक जीवन, धार्मिक तथा सास्कृतिक स्वतन्त्रता, सार्व-जनिक जीवन, तथा सघ-समिति के अधिकार और उनके साथ लगे हुए कर्त्तव्य गांववालो से उतना ही सम्बन्ध रखते है जितना कि नगर-निवासियो से।"[2]

हिन्दी-साहित्य मे 'नागरिक' शब्द का प्रयोग नगर-निवासी के अर्थ मे प्राचीन समय से होता रहा है। हिन्दी मे 'नागर' या 'नागरिक' शब्द का

---

१ डा० बेनीप्रसाद नागरिक शास्त्र · चौथा अध्याय, पृ० ७४-७५ (सन् १९३७)

२. उपर्युक्त।

अर्थ है नगर में रहनेवाला। प्राचीन-काल में 'नागरिक' शब्द चतुर, शिष्ट तथा सभ्य के अर्थ में भी प्रयुक्त होता था। अंग्रेज़ी में 'सिटीज़नशिप' का जो अर्थ है, वही अर्थ हिन्दी में 'नागरिकता' का भी है।

इस सम्बन्ध में संक्षेप में यह जान लेना उचित होगा कि राजनीतिक भाषा में 'नागरिक' और 'प्रजा' इन दोनों में अन्तर है। स्वाधीन राज्य के निवासी नागरिक कहलाते हैं, और परतन्त्र, अर्द्धपरतन्त्र या एकतन्त्र राज्य के निवासी 'प्रजा' कहलाते हैं, यद्यपि वैदिक और भारतीय साहित्य में 'प्रजा' शब्द का प्रयोग नागरिक के अर्थ में ही किया गया है। वेदों के अनेक मन्त्रों में राजा-प्रजा के कर्त्तव्यों और अधिकारों का उल्लेख मिलता है। किन्तु आधुनिक समय में 'प्रजा' शब्द 'नागरिक' शब्द से हीन कोटि का है। 'प्रजा' से एक ऐसे जन-समुदाय का बोध होता है, जो ऐसे शासन के नियन्त्रण में रहता है, जिसके संचालन में उसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में हाथ नहीं।

परन्तु इस सम्बन्ध में एक अपवाद है। इंग्लैण्ड के नागरिक 'प्रजा' कहलाते हैं, यद्यपि वे नागरिकता के अधिकारों से युक्त हैं। दूसरी ओर भारत के निवासी भी प्रजा कहलाते हैं, नागरिक नहीं, यद्यपि भारतीयों को नागरिकता के पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं हैं।

नागरिक-शास्त्र क्या है?

जिस समय यूनानियों ने अपने देश में नगर-राज्यों की स्थापना की उसी समय में रोमवासियों ने इटली में वैसे ही नगर-राज्य स्थापित किये। वे नगर को 'सिविटस' कहते थे। अंग्रेज़ी में 'सिटी'—नगर—शब्द की उत्पत्ति इसी शब्द से हुई है। लैटिन भाषा के 'सिविस' शब्द का अर्थ नागरिक है। प्राचीन समय में यूनान में 'पॉलिटिक्स' शब्द का प्रयोग नगर के मामलों के सम्बन्ध में किया जाता था। इसी प्रकार इटली में नगर के मामलों के सम्बन्ध में 'सिविक्स' शब्द का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार भाषा-विज्ञान के अनुसार पॉलिटिक्स, राजनीति, 'सिविक्स' और नागरिक-शास्त्र का एक-सा ही अर्थ है। रोम और यूनान की

सभ्यता का प्रभाव समस्त यूरोप के देशो पर पडा और नागरिकता, नागरिक सभ्यता आदि शब्दो का प्रयोग अन्य भाषाओ मे भी होने लगा। यही कारण है कि राजनीति और नागरिक शास्त्र मे इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि उनके बीच विभाजक रेखा खीचना असम्भव नही तो कठिन जरूर है।

राजनीति-विज्ञान और नागरिक-शास्त्र दोनो ही का राज्य के नागरिको से सम्बन्ध है। वे मनुष्यो मानव-समाज तथा राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो का विवेचन करते है। नागरिको के अधिकारो और राज्य के प्रति उनके कर्त्तव्यो का प्रतिपादन नागरिक-विज्ञान का विषय है। नागरिक-शास्त्र ऐसी अवस्थाओ और परिस्थितियो का निर्देश करता है जो नागरिको के अनुकूल होती है और जिनमे रहकर वे व्यक्तिगत एव सामाजिक उन्नति कर सकते है। नागरिक-शास्त्र इस बातका विवेचन करता है कि नागरिक-जीवन किस प्रकार उत्तम और सुखी बनाया जा सकता है। नागरिक जीवन को श्रेष्ठ बनाने के लिए राज्य की ओर से क्या-क्या सुयोग, सुविधाएँ होनी आवश्यक है, किन-किन कार्यो मे राज्य को व्यक्तियो के कार्यो मे हस्तक्षेप करना चाहिए और ऐसे कौन-से उपाय है जिनके द्वारा प्रत्येक नागरिकको यह विश्वास हो जाये कि वह शान्ति-पूर्वक अपने श्रम के फल का उपभोग करता हुआ अपने राष्ट्र, नगर और विश्व मे शान्ति-स्थापित करने मे योग दे सकेगा।

राजनीति-विज्ञान और नागरिक-शास्त्र मे अन्तर

विषय की दृष्टि से इन दोनो मे तनिक भी अन्तर नही है। भेद केवल इतना ही है कि एक जिस बात पर अधिक जोर देता है दूसरा उसपर उतना जोर नही देता। निम्नलिखित तुलनात्मक वर्णन से यह सहज मे जाना जा सकता है—

राजनीति-विज्ञान	नागरिक-शास्त्र
१ राजनीति-विज्ञान विशेषत राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय विषयो	१ नागरिक-शास्त्र विशेषत स्थानीय विषयो से सम्बन्ध रखता

का विवेचन करता है ।	है ।
२ राजनीति-विज्ञान राजनीतिक संस्थाओं और व्यवस्थाओं के विकास का इतिहास बतलाता है ।	२ नागरिक-शास्त्र उस विकास को पहले से ही मान लेता है ।
३ राजनीति-विज्ञान मुख्यत अधिकारों और उनकी प्राप्ति के उपायों पर जोर देता है ।	३ नागरिक-शास्त्र मुख्यत कर्त्तव्यों और उनके सम्पादन के लिए आवश्यक शिक्षा और आचरण पर जोर देता है ।

अत यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि नागरिक-शास्त्र का विषय समूचे नागरिक-जीवन को श्रेष्ठ बनाना है—उसकी उन्नति करना है। वह सामाजिक अवस्थाओं और परिस्थितियों की जाँच-पड़ताल करता है, इसलिए विज्ञान है और अनुसंधान के परिणामों का उपयोग नागरिक जीवन की उन्नति के लिए करता है, इसलिए वह कला भी है ।

: २ :

नागरिक शिक्षा

नागरिक-शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता

नागरिक-शास्त्र का उद्देश्य नागरिक-जीवन को पूर्ण और श्रेष्ठ बनाना है। राज्य के प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य है कि वह नागरिक के कर्तव्यो और उत्तरदायित्वो का यथावत् ज्ञान प्राप्त करके उनका पालन करे। यह ज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है जब वह नागरिक-शास्त्र का भली भांति अध्ययन करके उसके सिद्धान्तो, आदर्शो एव नियमो के अनुसार अपने जीवन को बनाने का प्रयत्न करे। भारत मे स्कूलो और कालेजो के छात्रो व छात्राओ को यह विषय पढाया जाता है। परन्तु यह विषय वैज्ञानिक ही है। अभी तक नागरिक शास्त्र का अनिवार्य रूप से इन सस्थाओ मे अध्ययन नही किया जाता। इस कारण अधिकाश छात्र नागरिक-शास्त्र के सिद्धान्तो व नियमो से अनभिज्ञ ही रहते है। इसका परिणाम प्रत्यक्षत व्यावहारिक जीवन मे देख पडता है। हममे नागरिक-भावना के अभाव का यह एक बडा कारण है।

प्रजातत्र की सफलता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि राज्य के नागरिको को शासन-कार्यों के प्रति दिलचस्पी हो। जिस राज्य के नागरिक स्वदेश की राजनीति मे अधिक दिलचस्पी लेते है, उसमे प्रजातत्र की सफलता की अधिक सभावना होती है। जबसे भारत के ११ प्रान्तो मे 'प्रान्तीय स्वशासन की स्थापना हुई है, तबसे शासन-कार्य मे जनता को दिलचस्पी पैदा होने लगी है। जनता अपने अधिकारो की रक्षा के लिए सतर्क होगयी है। यदि शासन नागरिको के अधिकारो पर कुठाराघात करनेवाली किसी नीति या कार्य को करने का निश्चय करे, तो यदि नागरिक अपने अधिकारो के प्रति सतर्क है, वे उसका विरोध करके सरकार को उसे बदल देने के लिए बाध्य कर सकते है।

भारत मे शिक्षा-शास्त्री और लोक-नेता यह अनुभव करने

लगे हैं कि भारत की शिक्षा-प्रणाली का पुनर्निर्माण इस ढंग से किया जाये कि उसमें भारतीय संस्कृति का पूरा विचार रखते हुए नागरिकता के श्रेष्ठ आदर्शों को स्थान मिले, जिससे शिक्षा जीवनोपयोगी बनने के साथ साथ जीवन को ऊँचा उठानेवाली भी बन सके। वर्धा-शिक्षा-कमेटी की रिपोर्ट में इसी मत का प्रकाशन किया गया है। इस रिपोर्ट के योग्य लेखकों का यह मत विचारणीय है कि

"हमारी यह आकांक्षा है कि वे अध्यापक और शिक्षा-विशारद जो इस नवीन शिक्षा सम्बन्धी प्रयोग को अपने हाथों में लें, इस योजना में निहित नागरिकता के आदर्शों को भलीभांति समझ लें। आधुनिक भारत में नागरिकता देश के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में अधिकाधिक प्रजातन्त्रीय हो जायगी। कम-से-कम नये युग की सन्तति को अपनी समस्याओं अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों को जानने-समझने के लिए सुयोग मिलना चाहिए। नागरिक कर्त्तव्यों एवं अधिकारों के विवेकपूर्ण उपभोग के लिए कम-से-कम शिक्षा-प्राप्ति के निमित्त एक सर्वथा नयी प्रणाली की आवश्यकता है। दूसरे, आधुनिक समय में, विवेकशील नागरिक को समाज का सक्रिय सदस्य बनना चाहिए। उसमें इतनी क्षमता हो कि वह अपने समाज के सदस्य की हैसियत से किसी उपयोगी सेवा के रूप में समाज को प्रतिदान कर सके।"[1]

इतिहास का अध्ययन और नागरिकता

इतिहास, भूगोल, समाज-विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र, नागरिक-शास्त्र आदि सब विज्ञान सामाजिक विज्ञान हैं। इन विज्ञानों का मानव-समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि मानव-समाज के आधार पर ही इन विज्ञानों का विकास हुआ है। इन विज्ञानों का परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि हम इनमें एक को दूसरे से अलग करके समझ नहीं सकते। वास्तव में ये मानव-समाज

---

[1] वर्धा-शिक्षा समिति की रिपोर्ट (१९३७)

पर विचार करने के विभिन्न दृष्टिकोण है ।

इतिहास मानव-समाज की अतीत काल की घटनाओ, कार्यो, ज्ञान और अनुभवो का वैज्ञानिक वर्णन है । प्राचीन युग के मानव-समाज के रीति-नियमादि के अध्ययन के आधार पर ही सामाजिक विज्ञानो का विकास हुआ है । नागरिक शास्त्र के उपादान तो स्पष्टत इतिहास से प्राप्त किये गये है । समाज की अवस्था के विकास के साथ-साथ, उसके आदर्शो, नियमो एव अवस्थाओ मे भी परिवर्तन होते रहते है । इन परिवर्तनो और अनुभवो के प्रकाश मे सामाजिक विज्ञानो मे भी परिवर्तन होते रहते है । अत इतिहास के साथ साथ नागरिक-शास्त्र का भी अध्ययन जरूरी है ।

सामाजिक विज्ञानों का उद्देश्य

सामाजिक विज्ञानो के अध्ययन का उद्देश्य यह है कि मानव-जाति के उत्कर्ष और कल्याण के लिए नागरिको मे मानव-हित का सम्यक् विकास हो । समाज मे जो अभाव और जो आवश्यकताएँ है, उनकी पूर्ति के लिए नागरिको को प्रेरणा व स्फूर्ति मिले । नागरिको मे मातृ-भूमि के लिए भक्ति-भावना तथा मानव के प्रति अनुराग पैदा हो और वे सत्य, न्याय प्रेम के आधार पर समाज-रचना कर सके । नागरिको को अपने कर्त्तव्यो तथा उत्तरदायित्वो का ज्ञान पैदा हो और वे अपने अधिकारो की प्राप्ति, रक्षा एव भोग कर सके । साराश यह है कि मानवता के चरम उत्कर्ष के लिए नागरिको को सामाजिक विज्ञानो का अध्ययन करना अनिवार्य है । यदि मानव-हित की भावना से इनका अध्ययन करके, उनके द्वारा प्रतिष्ठित मानवीय आदर्शो के अनुसार अपने जीवन को सुसस्कृत बनाया जाय तो विश्व मे सहकारिता, न्याय, प्रेम और सत्य का राज्य स्थापित होना असभव नही ।

नागरिक-शास्त्र के अध्ययन की पद्धति

नागरिक-शास्त्र का अध्ययन केवल ज्ञान-वर्द्धक ही नही होना चाहिए

बल्कि उसे शिक्षाप्रद और प्रयोगात्मक भी होना चाहिए। नागरिक शिक्षा ज्ञानवर्द्धक के साथ शिक्षाप्रद और प्रयोगात्मक होनी चाहिए। आजकल स्कूलो व कालेजो मे इस विषय की जो शिक्षा दी जाती है, वह केवल ज्ञानवर्द्धक ही है। व्यावहारिक न होने से वह जीवनोपयोगी नही है।

नागरिक-शिक्षा ज्ञान-वर्द्धक हो—इसका अभिप्राय यह है कि पाठक को नगर की, देश की और ससार की स्थिति और अवस्था का ज्ञान हो जाये। देश के राष्ट्रीय जीवन के विविध क्षेत्रो का ज्ञान जरूरी है। देश की नागरिक, आर्थिक, सामाजिक सास्कृतिक एव राजनीतिक अवस्था का ज्ञान प्रत्येक नागरिक को होना चाहिए। इस आवश्यक ज्ञान के अभाव मे वह अपने कर्तव्य कार्यों का यथाविधि पालन नही कर सकता।

नागरिक-शिक्षा शिक्षाप्रद भी हो—इसका मतलब यह है कि नागरिको को शिक्षा ऐसे ढग से दी जाये कि वे अपने परिवार, पाठशाला, कालेज, पडोस, बस्ती, ग्राम, नगर, समाज राज्य और अन्त मे विश्व के मानवो के प्रति सामाजिक व्यवहार के आधारभूत सिद्धान्तों को हृदयगम कर सके। उन्हे अपना नागरिक जीवन सुखी और श्रेष्ठ बनाने के लिए पथ-प्रदर्शन मिले तथा उनमें सामाजिक सस्थाओ के प्रति आदर और श्रद्धा पैदा हो तथा वे उनके सचालन एव प्रबध मे सहयोगपूर्वक भाग ले सके। नागरिको को इस प्रकार से शिक्षा दी जाये कि वे लोक-सग्रह, सामाजिक न्याय, सहकारिता, राष्ट्रीय एकता और अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता के सिद्धान्तो को भली भाँति समझ ले।

नागरिक-शिक्षा सैद्धान्तिक होने के साथ-साथ प्रयोगात्मक एव व्यावहारिक भी हो। नागरिक शिक्षा और नागरिक जीवन में स्पष्ट सबध होना चाहिए। जिस प्रकार रसायन या भौतिक विज्ञान के विद्यार्थी अपनी प्रयोगशाला मे परीक्षण करते है, उसी प्रकार नागरिक-शास्त्र के विद्यार्थियो को मानव-समाज की प्रयोग-शाला मे प्रयोग करने का अवसर मिलना चाहिए। स्वदेश और ससार के मानव समाज के सस्कारो, रीति-रिवाजो, सामाजिक दशाओ और नागरिक दशाओ का अध्ययन

और अन्वेषण करके नागरिक जीवन के अनेक तथ्यो का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है यही नागरिक शिक्षा की व्यावहारिकता है। अपने नगर या ग्राम के जन-समाज की सामाजिक स्थिति, जीवनचर्या, आर्थिक जीवन आदि की जाँच-पडताल द्वारा प्रयोग शुरू किया जा सकता है और समय और सुविधा के अनुसार यह प्रयोग एक वडे पैमाने पर भी किया जा सकता है।

नागरिक-शिक्षा के लिए तीक्ष्ण बुद्धि, कल्पना-शक्ति, सहानुभूति और सेवाभाव की बहुत जरूरत है। नागरिक-शास्त्र के विद्यार्थी को विचार-शक्ति से अधिक काम लेना चाहिए। अपने से अधिक श्रेष्ठ विद्वानो के विचारो, सिद्धान्तो और सम्मतियो से प्रभावित होकर, तर्क की कसौटी पर उन्हे परखे विना अपनाने से उसका प्रयोग निष्पक्षता से पूरा नही हो सकता। विद्यार्थी को चाहिए कि वह देश या ससार के मानव-समाज की स्थितियो और सामाजिक जीवन की जाँच-पडताल करते समय साम्प्रदायिक या सकीर्ण मनोवृत्ति से काम न ले। उसमे कल्पना-शक्ति की भी आवश्यकता है। कल्पना-शक्ति के अभाव मे उसका प्रयोग सफल हो सकेगा, इसमे सन्देह है। जब हम समाज के विभिन्न व्यक्तियो, समुदायो और वर्गो की स्थितियो का निरीक्षण करते है, तो हम एक सीमा तक अपने को भी उन स्थितियो मे अनुभव करके, उनकी दशा पर विचार करते है। उदाहरणार्थ, अगर प्रयाग-विश्वविद्यालय का राजनीति का एक छात्र सयुक्तप्रान्त के किसी पूर्वी जिले के ग्राम-जीवन का अध्ययन और निरीक्षण करना चाहे तो उसे अपने मानसिक दृष्टिकोण मे बडा परिवर्तन करना पडेगा। जिस छात्र ने अपने जीवन का अधिक समय होस्टलो मे सुख और आनन्द के साथ विताया है, जिसने नागरिक जीवन के लिए विज्ञान और आधुनिक अन्वेषणो ने जो सुविधाएँ और साधन प्रदान किये है, उनका उपभोग किया है, जिसने सिनेमा, नाटक, थियेटर, सगीत तथा नृत्य का आनन्द उठाया है और जो हर समय 'शिक्षित वातावरण' मे साँस लेता रहा है, ऐसा विद्यार्थी यदि सहसा ग्राम-जीवन के अध्ययन के लिए किसी गाँव को चल पडे तो उसकी सारी दुनिया ही

बदल जायेगी। वह अपने को एक सर्वथा नये और अपरिचित वाता
में पायेगा। इस ग्राम-जगत की झाँकी के लिए उसे एक ग्रामीण
होगा और ग्रामीण बनकर ही वह उनके मनोभावो, विचारो,
और आवश्यकताओ को जान और समझ सकेगा, अन्यथा नही।
लिए उसे कल्पना-शक्ति की आवश्यकता पडेगी। उसमें सेवा-भाव का
होना जरूरी है। इसके बिना वह जीवन का अध्ययन सफलतापूर्वक
कर सकेगा। सेवा-भाव सहानुभूति से उत्पन्न होता है। सहानुभूति
अर्थ है दूसरो के दुख-सुख की अनुभूति। विद्यार्थियो में नागरिक भा
का विकास करने के लिए यह आवश्यक है कि उनमें लोक-सग्रह की भा
जगायी जाये। समाज-सेवा के लिए विस्तृत क्षेत्र है। केवल जरूर
विद्यार्थी-वर्ग मे समाज-सेवा के लिए सच्ची लगन की, प्रदर्शन की न

अपने गाँव के किसानो, अपने नगर के मजदूरो तथा दूसरे शो
वर्गो के सामाजिक और आर्थिक जीवन की जाँच-पडताल की
सकती है। इस प्रकार वे उनके जीवन को सुधारने के लिए उपाय
सकते है। इस प्रकार के कार्यो मे न केवल उनका ज्ञान ही बढेगा व
वे पीडित मानवता की सेवा भी कर सकेगे।

विश्वविद्यालयो और कालेजो के छात्र एव छात्राएँ 'सेवासघ' बना
निकटवर्ती गाँवो के निवासियो के सम्पर्क में आकर उनकी सामा
दशा का निरीक्षण कर सकते है। इन सेवा-सघो द्वारा ग्रामवासियो
स्वास्थ्य, ज्ञान और शक्ति का सन्देश दिया जा सकता है। साक्षरता
प्रसार के लिए प्रौढ-पाठशालाओ का सचालन, रोगियो की सेवा, ज
मे स्वास्थ्य के सिद्धान्तो व सफाई के नियमो का प्रचार, किसानो
अपनी कृषि तथा धन्धो में सुधार करने के उपाय बतलाना, नगरों
मजदूरो के स्वास्थ्य के सुधार के लिए प्रयत्न करना आदि आदि जन-से
के अनेक मार्ग है। इन साधनो द्वारा नागरिक शिक्षा का व्यावहा
अध्ययन किया जा सकता है।

मैसूर विश्वविद्यालय के दीक्षान्त-उत्सव मे ६ अक्तूबर १९३८
स्वर्गीय दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रूज ने अपने दीक्षान्त भाषण में इसी प्रक

के विचार व्यक्त किये थे

'मेरा ध्यान इस बात की ओर दिलाया गया है कि इस विश्वविद्यालय के विद्यार्थी गांवो में जाते है, और अपनी कल्पना के अनुरूप कार्य का प्रतीक मैंने बगलोर में शुरू कर दिये गये काम में पा लिया है। लेकिन मैं तो चाहता हूँ कि इस दिशा में इससे भी अधिक एकनिष्ठ प्रयत्न किया जाये। क्या कोई ऐसा आश्रम या बस्ती नहीं हो सकती, जिसका विश्वविद्यालय से सीधा सम्बन्ध हो, जिसकी अपनी इमारते हो और जहां विश्वविद्यालय के वे स्नातक जा सकें जो दीन-दुखियो के दुःख में घुल-मिल जाने का सकल्प कर चुके हैं?'

: ३ :

मानव-समाज

मानव-समाज का संगठन

मानव-समाज अर्थात् समस्त संसार के मनुष्य जाति, रंग, धर्म, संस्कृति, सभ्यता, राज्य-शासन-प्रणाली आदि कारणों से विविध समुदायों में बँटे हुए हैं। संसार की जन-संख्या १ अरब ९९ करोड़ २५ लाख है। परिवार या कुटुम्ब सबसे छोटा मानव-समुदाय है। यह समुदाय सृष्टि के आदि से आज तक विद्यमान है और अन्त तक कायम रहेगा। परिवार ही वास्तव में मानव-संगठन का मूल आधार है। उसका कार्य संतान का पालन-पोषण और सृष्टि-क्रम का संचालन है। यह कार्य मानव-जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए मानव सदैव परिवार की रक्षा के लिए प्रयत्नशील और जागरूक रहा है। परिवार के विनाश से मानव-समाज की सभ्यता तथा संस्कृति पर कैसा आघात होगा, इसकी कल्पना भयंकर है।

जातियों के आधार पर मानव-समाज अनेक भागों में बँटा हुआ है। जैसे—आर्य, अनार्य, द्राविड़, अरब, पारसी, नीग्रो, हूण, नार्डिक, स्लैव, कैल्ट, जर्मन, सैक्सन आदि। धर्म के आधार पर भी अनेक विभाग हैं—हिंदू, ईसाई, मुसलमान, बौद्ध, कन्फ्यूशियस, यहूदी आदि और इनके भी अनेक उप-विभाग हैं। ऐसे भी जन-समुदाय हैं, जो धर्म और ईश्वर में विश्वास नहीं करते। वे निरीश्वरवादी हैं। वर्तमान समय में सोवियट रूस ईश्वर-विरोधी है। रंग अर्थात् वर्ण की दृष्टि से भी मानव-समाज कई भागों में विभाजित है—गोरा, पीला, [illegible] इत्यादि। शीतप्रधान देशों में [illegible] है। ये आर्य या सैक्सन माने हैं। उष्ण देशों में [illegible] है। [illegible] में [illegible] है। राजनीतिक आधार पर भी [illegible] कई भागों में विभाजित है—[illegible], [illegible], [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] है—[illegible]

विद्यालय, विद्वन्मण्डल, सगीत-परिषद्, नाट्य-परिषद्, साहित्य-परिषद् आदि। कुछ मानव-समुदाय स्वतन्त्र है, दूसरे परतन्त्र है और कुछ ऐसे भी है जो स्वतन्त्र देशो के प्रभाव मे है अथवा अर्द्ध-स्वतन्त्र है।

इन समस्त समुदायो मे राज्य, धर्म और जाति-सम्बन्धी समुदाय ही प्रमुख है। आज के मानव-समाज मे ये तीन तत्त्व मानव-एकता, मानव-सगठन और विश्व-शान्ति के लिए महान् सकट सिद्ध हो रहे है।

ससार मे प्रत्येक स्वतन्त्र राज्य उग्र राष्ट्रवादी है। वह ससार के दूसरे राष्ट्रो को अपने आधिपत्य, प्रभाव या अधिकार मे लाना चाहता है। आज यूरोप, अमरीका, एशिया और अफ्रीका मे इसका प्रत्यक्षीकरण किया जा सकता है। जर्मनी समस्त ससार मे चक्रवर्ती राज्य की कामना करता है। इसी उद्देश्य से वह यूरोप मे युद्ध मे तल्लीन है। जापान एशिया का शिरोमणि होना चाहता है और इसलिए वह चीन और हिन्द-चीन को दबाता हुआ ब्रह्मा की ओर पैर बढा रहा है। इटली रोमराज्य का मधुर स्वप्न देख रहा है, इसलिए अफ्रीका मे वह बमवर्षा कर रहा है। इस प्रकार ये स्वाधीन राष्ट्र-राज्य ससार की स्वाधीनता को कुचल रहे है।

धर्म, जो वास्तव मे मानव-समाज मे एकता और आध्यात्मिक प्रेम तथा सहकारिता पैदा करने के लिए है, आज उग्र राष्ट्रवादी देशो की साम्राज्य-विस्तार की कामना की पूर्ति का साधन बन गया है। धर्म के नाम पर बडे-से-बडा पाप किया जा रहा है और उसे पवित्र कृत्य सिद्ध कराने के लिए धर्माचार्यो तथा पोप-पादरियो को खरीदा जा रहा है।

इसी प्रकार जाति (Race) की उग्र आत्म-चेतना आज ससार-सकट का कारण बन रही है। अबतक गोरी जातियाँ यह दावा करती रही कि हमे ईश्वर ने ससार की अन्य (काली, पीली, भूरी) जातियो को सभ्यता का सन्देश देने के लिए पैदा किया है, हमी ससार पर आधिपत्य करने के योग्य है, परन्तु अब इस युग मे जर्मनी मे हेर हिटलर का यह दावा हो रहा है कि केवल जर्मन ही पवित्र आर्य जाति के है, शेष यूरोप की जातियाँ वर्ण-सकर है। इसी कारण जर्मन रक्त की पवित्रता की रक्षा करने

के लिए हिटलर ने अपने राज्य से यहूदियों को देश-निकाला दे दिया।

पिछले महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद यूरोप के राष्ट्रों ने धर्म राज्य तथा जाति के बन्धनों से ऊपर अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के विकास के लिए राष्ट्रसंघ की स्थापना करने का प्रयत्न किया। परन्तु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली।

संसार के महान् राज्य

आधुनिक काल में ग्रेट-ब्रिटेन, संयुक्त-राज्य अमरीका, सोवियट रूस, जर्मनी, फ्रांस, जापान, इटली, चीन विश्व के महान् राज्य हैं। पृथ्वी पर चार बड़े-बड़े महाद्वीप हैं—एशिया, यूरोप, अफ्रीका और अमरीका (उत्तरी व दक्षिणी)। इनमें अमरीका की राजनीति की कुंजी संयुक्त-राज्य अमरीका के हाथ में है। दक्षिणी अमरीका के राज्यों पर उसका प्रभाव और अधिकार है। प्रायः १०० वर्षों से संयुक्त-राज्य मुनरो-सिद्धान्त के अनुसार यूरोपीय राष्ट्रों के हस्तक्षेप से दक्षिणी अमरीका को मुक्त रखे हुए है। इसके बाद ग्रेट-ब्रिटेन का महत्वपूर्ण स्थान है। यह ब्रिटिश राष्ट्र-समूह की धुरी है और इसके चारों ओर उपनिवेश तथा स्वाधीन देश हैं। दक्षिणी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, कनाडा और आयरलैण्ड में ब्रिटेन का साम्राज्य है। भारतवर्ष भी १५० वर्षों से ब्रिटेन के अधिकार में है। इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य आज संसार में सबसे बड़ा राज्य है।

पाँच राज्य बडे है और वे शेष २९ राज्यो पर अपना प्रभाव बनाये हुए है। जब उनको अपने किसी हित मे बाधा जान पडती है तो वे दूसरे राष्ट्र मे अपने अल्पमत की रक्षा के नाम पर युद्ध मे प्रवृत्त हो जाते है। वर्तमान् यूरोपीय युद्ध का आरम्भ भी इसी बहाने हुआ है। जर्मनी का यह अभियोग था कि पोलैण्ड मे बसनेवाले जर्मनो के साथ पोल (पोलैंडवासी) बडे नृशस और भीषण अत्याचार करते है। उनकी रक्षा के लिए ही जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण किया, ऐसा हेर हिटलर का दावा है। यूरोप के इन बडे राष्ट्रो के अफ्रीका और एशिया मे साम्राज्य है—उपनिवेश है, प्रभाव-क्षेत्र है। प्रत्येक महान् राष्ट्र का सदैव यही प्रयत्न रहा है कि वह अपने साम्राज्य, उपनिवेशो तथा प्रभाव-क्षेत्रो को सुरक्षित रखे तथा उनमे वृद्धि करे।

ससार की पराधीन जातियाँ

एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका मे पराधीन और अर्द्ध-परतत्र जातियो की प्रधानता है। सन् १९२९ की जन-सख्या के अनुसार ससार के समस्त देशो की कुल जन-सख्या १,९९,२५,२९,००० है।[1] एशिया, अफ्रीका और अमरीका मे ब्रिटेन, फ्रास, इटली, जापान, सयुक्त-राष्ट्र, नैदरलैण्ड, पुर्तगाल आदि देशो के साम्राज्य और उपनिवेश है। सन् १९१४-१८ के यूरोपीय महायुद्ध के पहले अफ्रीका मे जर्मनी के भी उपनिवेश थे, परन्तु वार्साई की सन्धि के अनुसार उनका अधिकार जर्मनी से ले लिया गया और वे मित्र-राष्ट्रो के नियत्रण मे आ गये। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत पराधीन जातियो की जन-सख्या ४० करोड ५८ लाख २४ हजार है। यह ससार मे सबसे बडा साम्राज्य है। इसके बाद नैदर-लैण्ड का स्थान है। इस देश के साम्राज्य के अन्तर्गत पराधीन जातियो की जनसख्या ६ करोड २ लाख १९ हजार है। फ्रास तीसरा साम्राज्यवादी राष्ट्र है। उसके साम्राज्य के अन्तर्गत पराधीन जातियो की आबादी

१ लीग ऑफ नेशन्स की 'स्टेटिस्टिकल ईअरबुक' १९३०-३१

एशिया के पराधीन राष्ट्र

एशिया मे केवल दो राष्ट्र ऐसे है जो पाश्चात्य देशो के साथ प्रतियोगिता मे ठहर सकते है। वे है जापान और तुर्किस्तान। इन दोनो राष्ट्रो ने आधी सदी मे ही अपने देशो मे कायापलट करदी। एशिया मे जापान, चीन, ब्रह्मा, तुर्किस्तान, तिब्बत, नेपाल, भारत, लका, हिन्दचीन, स्याम, इन्डोनेशिया, फारस, सीरिया, इराक, फिलस्तीन, कोरिया और फिलिपाइन द्वीप आदि राष्ट्र है। इनमे भारतवर्ष, ब्रह्मा, तथा लका ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत है। फिलस्तीन राष्ट्रसघ के शासनादेश के अनुसार ब्रिटेन के नियत्रण मे है। सीरिया पर फ्रास का नियत्रण है। नेपाल स्वतत्र राज्य है, तो भी वह ब्रिटेन के प्रभाव मे है। हिन्दचीन मे फ्रास का साम्राज्य है। इराक और सीरिया भी ब्रिटेन के कब्जे मे है।

चीन यद्यपि स्वाधीन राष्ट्र है, तो भी उसकी दशा पराधीन राष्ट्र तक से गयी-बीती है। उसपर दस वर्षो से साम्राज्यवादी जापान की कोपदृष्टि है। उसने चीन के कई प्रान्तो का अपहरण कर लिया है और अब भी उसकी साम्राज्य-पिपासा शान्त नही हुई है। जापान का सिद्धान्त है कि एशिया एशियायी लोगो के लिए है। उसपर गैर-एशियायी राष्ट्रो को आधिपत्य जमाने का कोई अधिकार नही है। जापान जो आज से ५० वर्ष पहले औद्योगिक दृष्टि से बहुत पिछडा देश था, आज यूरोप से कला-कौशल सीखकर न केवल विज्ञान और कला की नकल अपने देश मे कर रहा है बल्कि वह यूरोप की जैसी भयकर स्थिति एशिया मे भी पैदा कर रहा है। उसने यूरोप के सैनिकवाद और साम्राज्यवाद की नकल करने मे सफलता प्राप्त की है और आज एशिया जापान के साम्राज्यवाद से सहम रहा है।

चीन मे आन्तरिक कलह वर्षो से है। राष्ट्रीय एकता के अभाव ने जापान ने सन् १९३१ मे चीन पर आक्रमण कर दिया और उसके कई प्रदेशो को हडप लिया। उस समय जापान राष्ट्रसघ का सदस्य था। चीन भी राष्ट्रसघ का सदस्य था। जब चीन पर जापान का आक्रमण

भारत मे विदेशी राज्य ने भारत को राष्ट्रीयता की चेतना प्रदान की है। आज भारत मे राष्ट्रीयता का अधिक प्रभाव है और इसने राष्ट्र के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा सास्कृतिक जीवन पर अपनी गहरी छाप लगा दी है। भारत के प्रान्तो मे ही नही बल्कि देशी राजाओ के राज्यो की जनता मे भी स्वाधीनता पाने की आकाक्षा उत्पन्न होगयी है। राष्ट्रीय-महासभा—काग्रेस—का भारत के राष्ट्रीय जीवन मे सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह भारत की सबसे अधिक शक्तिशाली सस्था ही नही है वरन् एक अपूर्व राष्ट्रीय शक्ति है। उसका लक्ष्य है भारत की जनता के लिए स्वाधीनता प्राप्त करना। आज भारतीय जनता स्वाधीनता के पथ पर अग्रसर है। सन् १९३५ के भारतीय शासन-विधान के अनुसार भारत के ११ प्रान्तो मे प्रान्तीय स्वशासन (उत्तरदायी शासन) की स्थापना १ अप्रैल सन् १९३७ से हो चुकी है। सात प्रान्तो मे काग्रेस-पार्टी के मन्त्रि-मण्डलो ने शासन चलाया है। काग्रेस उपर्युक्त शासन-विधान को राष्ट्र के लिए अपर्याप्त और असन्तोषजनक मानती है और उसे अस्वीकार्य घोषित करती है। भारत के दूसरे राजनीतिक एव साम्प्रदायिक वर्गो ने भी इस विधान को असन्तोषप्रद घोषित किया और विशेष रूप से विधान की सघ-योजना का काग्रेस और मुसलिम-लीग ने घोर विरोध किया यद्यपि विरोध करने मे दोनो के उद्देश्य भिन्न-भिन्न रहे है।

भारत की स्वाधीनता की समस्या आज बडी जटिल बन गयी है। भारत मे साम्प्रदायिक कलह के कारण राष्ट्रीय एकता का अभाव है। इसके अतिरिक्त देशी राज्यो के नरेश भी स्वाधीनता-प्राप्ति मे रोडे अटकाते है। १ सितम्बर १९३९ को यूरोप मे महायुद्ध छिड जाने से ब्रिटेन पोलैण्ड की रक्षा के लिए युद्ध मे उतर पडा और भारत को भी युद्धरत राष्ट्र घोषित कर दिया। राष्ट्रीय महासभा ने ब्रिटिश सरकार की इस नीति पर असन्तोष प्रकट किया। उसका कहना है कि भारतीय जनता की सम्मति लिए बिना उसे युद्ध मे शामिल करना उचित नहीं इस प्रकार युद्ध ने भारत मे एक बडा वैधानिक सकट पैदा कर दिया है।

इराक, फिलस्तीन और सीरिया राष्ट्रसघ के शासनादेश के अनुसार

ब्रिटेन और फ्रांस के नियन्त्रण मे है। सीरिया पर फ्रांस का नियन्त्रण है।

फिलस्तीन अंग्रेजो के संरक्षण मे है। वास्तव में यह अरबों का देश है। एक अंग्रेज हाई कमिश्नर उसका शासन-प्रबन्ध एक कमिटी की सलाह से करता है। अरब इस प्रकार के संरक्षण के सदा से विरोधी रहे है। जबसे जर्मनी ने यहूदियों को निकाल दिया है तबसे उनके उपनिवेश के लिए तरह-तरह की योजनाएँ सोची जा रही है। यहूदी और अरब ये दो विभिन्न जातियाँ है। यहूदियो मे बडे-बडे पूंजीपति है। उन्होने फिलस्तीन मे बसकर उसे चमन बना दिया है। उनकी आर्थिक दशा मे बडा सुधार हो गया है। परन्तु इन दोनो मे संघर्ष जारी है। अरब यह नही चाहते कि उनके देश का बँटवारा हो। दूसरी ओर यहूदियो की बढती हुई संख्या के लिए प्रदेश की आवश्यकता है। यहूदी-अरब संघर्ष का अन्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने एक शाही कमीशन नियुक्त किया। इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट मे यह सिफारिश की कि फिलस्तीन को अरब और यहूदियो मे बाँट दिया जाय। इस प्रकार अरबो मे और भी असन्तोष पैदा हो गया है।

सीरिया फ्रांस के आधिपत्य मे है। परन्तु सन् १९२८ मे वहाँ उत्तरदायी शासन की स्थापना कर दी गयी।

भारत के उत्तर मे स्थित तिब्बत देश पर भी ब्रिटेन का प्रभुत्व है। इन्डोनेशिया डच (हालैण्ड के) साम्राज्यवाद का शिकार है। इस देश मे सन् १९२७ से स्वाधीनता-प्राप्ति का आन्दोलन हो रहा है। परन्तु अभीतक उसे स्वतन्त्रता नही मिल पायी है।

हिन्द-चीन फ्रांस का उपनिवेश है। उसकी प्रजा विदेशी शासन के विरुद्ध है। वह भी विदेशी बन्धन से मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील है। इस समय जापान इस देश पर आक्रमण कर रहा है।

फिलिपाइन द्वीप पर संयुक्तराज्य अमरीका का आधिपत्य है। इस देश के निवासी वर्षों से स्वाधीनता प्राप्ति के लिए आन्दोलन कर रहे है। परन्तु उन्हे आजतक स्वतन्त्रता नही मिली है।

अफ्रीका के उपनिवेश

अफ्रीका सबसे पिछडा हुआ देश है। सोलहवी सदी मे जब दास-व्यापार बडे वेग के साथ चल रहा था, तब यूरोप की जातियो ने इस स्वर्ण-भूमि पर पदार्पण किया था। कई शताब्दियो तक सभ्यता का पाठ सिखानेवाले गोरो के सम्पर्क मे रहते हुए भी आज अफ्रीका के असली निवासी सभ्यता और सस्कृति मे बहुत पिछडे है। यूरोपीय जातियो को अफ्रीका मे अपना आधिपत्य जमाने के लिए अधिक सघर्ष या युद्ध नही करना पडा, क्योकि वहाँ की अधिकाश जातियाँ वन्य और असभ्य थी। उन्होने विदेशियो के चरणो मे आत्म-समर्पण कर दिया। पिछले महायुद्ध (१९४१-१८) से पहले अफ्रीका मे जर्मनी के कई उपनिवेश थे। परन्तु शान्ति-सन्धि के अनुसार ये उपनिवेश ब्रिटेन, फ्रास और बेलजियम के अधिकार मे आगये।

टेगानिका ब्रिटेन के आधिपत्य मे चला गया। इसका कुछ उत्तरी-पश्चिमी भाग बेलजियम को मिला। जर्मन केमरुस का अधिकाश भाग फ्रास के हिस्से मे आया। टोगालैण्ड फ्रास और ब्रिटेन के बीच मे बाँटा गया। 'दक्षिणी अफ्रीका यूनियन' ब्रिटिश साम्राज्य का उपनिवेश है। मिस्र पहले ब्रिटेन के अधीन था। परन्तु अब वह स्वतन्त्र राष्ट्र है। फिर भी ब्रिटेन का उसपर प्रभाव है। सन् १९३४ मे इटली ने स्वतन्त्र राज्य अबीसीनिया को युद्ध मे हराकर उसे अपने अधीन कर लिया। अब केवल लिबेरिया ही एकमात्र स्वतन्त्र राज्य है।

अमरीका मे मुनरो-सिद्धान्त

सयुक्तराज्य अमरीका कई सदियो से यूरोप की राजनीति से अलग रहा है। वह यूरोप की सकटपूर्ण राजनीति की उलझन से अपने आपको सदैव बचाता रहा है। अमरीका के राष्ट्रपति वाशिग्टन ने पहले-पहल १७ सितम्बर १७९६ को अपने भाषण मे यह भावना व्यक्त की कि अमरीका को यूरोपीय झगडो से अलग रहना चाहिए। इसके बाद सन् १८२३ मे राष्ट्रपति मुनरो ने अपने सदेश मे अमरीका की नीति का

स्पष्टीकरण किया। इस सन्देश में मुनरो ने यह घोषणा की कि यूरोप के राष्ट्रों को अब अमरीका (उत्तरी व दक्षिणी) में अपने उपनिवेश स्थापित करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। यूरोपीय देशों के ऐसे युद्धों मे, जिनसे अमरीका का कोई सबंध नहीं, वह भाग नहीं लेगा और न ऐसा करना उसकी नीति के अनुकूल ही है। यूरोपीय देशों ने साम्राज्य-स्थापना की भावना से अमरीका महाद्वीप मे प्रवेश किया तो उनका यह प्रयत्न अमरीका की शान्ति के लिए खतरा होगा। इस समय अमरीका मे जो यूरोपीय उपनिवेश या पराधीन राज्य है, उनके साथ अमरीका का संबंध वैसा ही बना रहेगा और संयुक्तराज्य अमरीका उसमे हस्तक्षेप नहीं करेगा। यह सिद्धान्त 'मुनरो सिद्धान्त के नाम से विख्यात है। इस सिद्धान्त का भविष्य में जो विकास हुआ उसके कारण संयुक्तराज्य समूचे अमरीका महाद्वीप का संरक्षक बन गया। इस समय समस्त अमरीका संयुक्तराज्य के आर्थिक साम्राज्यवाद का शिकार है। उसका अमरीका तट के निकटवर्ती द्वीपो पर अधिकार है। यही नहीं, सुदूर द्वीपो पर भी उसने अपना अधिकार जमा लिया है। हवाई और फिलिपाइन द्वीप संयुक्त-राज्य अमरीका के आधिपत्य में है। इसके अतिरिक्त उसने क्यूबा, हेटी, साण्टो डोमीनगो के साथ सन्धि करके उनकी भी स्वाधीनता पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये है। पनामा और निकारागुआ राज्यो के चुनावो के समय संयुक्तराज्य की सेनाओं का प्रबन्ध रहता है। इन सब राज्यों की वैदेशिक नीति पर भी उसका प्रभाव है।

: ४ :

साम्राज्यवादी प्रवृत्तियाँ

साम्राज्यवाद क्या है—इसका मर्मस्पर्शी और वास्तविक विवरण एक भारतीय विद्वान के शब्दो मे इस प्रकार है "स्वाधीनता और मानवता की राख से साम्राज्यवाद का जन्म हुआ है। बरसो नर-नारियो की आहो और अभिशापो से बना मुकुट साम्राज्य के सिर पर है। इसके कपडे लाल रग के है, इसके साथी अकाल, महामारी और भीषण रोग है। इसके आने के साथ भीषण आतक छा जाता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। दूसरी भाषा, दूसरी सभ्यता और सस्कृति जबर्दस्ती से लाद दी जाती है। अपनी इच्छा को दूसरे की इच्छा का अनुगामी बनना पडता है। क्या यह साम्राज्यवाद दुनिया के लिए मगलमय, सुखप्रद, और जीवनदाता हो सकता है ?"

यह है साम्राज्यवाद का सजीव स्वरूप। इससे अच्छी उसकी व्याख्या और क्या हो सकती है ! साम्राज्यवाद पूँजीवाद का अन्तिम और निखरा रूप है। पूँजीवाद एक आर्थिक प्रणाली है। इसलिए साम्राज्यवाद भी आर्थिक है। आज का युग ही अर्थ-प्रधान है। राजनीति भी अर्थ-नीति की अनुचरी है। इसलिए आज के साम्राज्यवाद को आर्थिक साम्राज्यवाद कहा जाता है।

आर्थिक साम्राज्यवाद

आर्थिक साम्राज्यवाद का प्रादुर्भाव फ्रास की राज्य-क्रान्ति और औद्योगिक क्रान्ति के बाद हुआ। फ्रास की राज्य-क्रान्ति का प्रभाव समस्त यूरोप पर पडा। फलस्वरूप यूरोप के अधिकाश देशो मे प्रजातन्त्र का बोलबाला रहा। जनता ने स्वेच्छाचारी एकतन्त्र शासन का अन्त कर के शासन की बागडोर अपने हाथ मे ली। इसने सारे यूरोप मे समता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व के आदर्श की धूम मच गयी। प्रजातन्त्र के

प्रताप से राजसत्ता स्वेच्छाचारी राजाओ के हाथ से निकलकर उच्च मध्यमवर्ग के लोगो के हाथ में आ गयी। इससे मध्यमवर्ग ने लाभ उठाया। उद्योग-धधो मे आश्चर्यजनक उन्नति हुई। अब पूंजीपति वर्ग के सामने अपना तैयार माल बाहर के देशो में भेजने की समस्या उपस्थित हुई।

अब ऐसे देशो की खोज होने लगी जिनमे तैयार माल बेचा और उनसे कच्चा माल सस्ते भाव मे खरीदा जा सके। इसलिए उपनिवेशो की खोज के लिए साहसी नाविक निकल पडे। रेल, तार, जहाज तथा मशीनो के आविष्कार ने उद्योग-धधो मे आश्चर्यजनक उन्नति करदी। सबसे पहले एशिया, अफ्रीका आदि के देशो मे यूरोपियन जातियो ने प्रवेश किया। इनमे उद्योग-धधे बडी पिछडी दशा मे थे। इसलिए उन्हे इन देशों में अपना माल खपाने और कच्चा माल खरीदने को एक बडा क्षेत्र और सुयोग हाथ लगा। इस उपनिवेश-विजय मे प्रतियोगिता भी बीज-रूप में विद्यमान थी। जब सबसे पहले यूरोप की विविध जातियाँ या देशवासी अफ्रीका और एशिया मे आये तब उनका एकमात्र ध्येय व्यावसायिक ही था। वे इन महाद्वीपो के देशो में अपना व्यवसाय चाहते थे। परन्तु दूसरे देशवालो की प्रतिस्पर्द्धा से अपनी रक्षा करने के लिए हरएक की चेष्टा यह रही कि मेरा ही एकाधिकार कायम होजाये। इसके लिए प्रतियोगियो मे सघर्ष चला। युद्ध लडे गये। जब एक जाति का एकाधिकार इन महाद्वीपो में जम गया, तब इस बात की चेष्टा होने लगी कि इनके देशो पर राजनीतिक प्रभुत्व भी कायम किया जाये। विदेशियो की प्रतिस्पर्द्धा से अपने आपको सुरक्षित करने के लिए राजनीतिक आधिपत्य कायम किया गया। इस प्रकार यूरोप के साम्राज्य-वादी राष्ट्रो ने एशिया और अफ्रीका मे उद्योग-धन्धों में अपनी पूंजी लगाने के साथ-साथ उसकी रक्षा के लिए राज-सत्ता भी स्थापित की।

सुप्रसिद्ध लेखक श्री ट्राउल्ट ने यूरोप और अफ्रीका की औपनिवेशिक प्रतिस्पर्द्धा के सम्बन्ध मे लिखा है—

"यूरोप और अमरीका ने हाल ही के कुछ वर्षों में चीन के सिवा ससार के सभी स्वतन्त्र देशो पर आधिपत्य जमा लिया है। इस समय

में सब प्रकार के देशो पर आधिपत्य जमाने के लिए हुए। सभी देश जल्दी करना चाहते थे। जिन राष्ट्रो के पास उपनिवेश नहीं है उन्हे भविष्य में मिलने की आशा नही थी। यदि उन्हे उपनिवेश नही मिलेंगे, तो बीसवी शताब्दी के होनेवाले आर्थिक शोषण में उनको सुयोग नहीं मिलेगा। यही कारण है जिससे यूरोपीय राष्ट्र साम्राज्यवादी नीति के कारण उन्मत्त होगये है।''

राष्ट्रीय स्वाधीनता का शत्रु—साम्राज्यवाद

यद्यपि साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति मूलत आर्थिक ही है, तो भी पूंजीपतियो का शासन पर प्रभुत्व होने के कारण साम्राज्यवाद अधिकृत देशो व उपनिवेशो मे केवल जनता का आर्थिक शोषण ही नहीं करता वरन् उनके शासन-यत्र का भी सचालन करता है। इसलिए साम्राज्य-वाद की प्रवृत्ति राजनीतिक भी रही है। प्राचीन भारत और यूरोप मे जो विशाल साम्राज्य स्थापित किये गये, उनका उद्देश्य राजनीतिक प्रभुता ही थी। आज भी इसी प्रभुता के लिए दूसरे देशो की स्वाधीनता का अपहरण किया जा रहा है।

यूरोपीय तथा अमरीकन राष्ट्र जहा-जहां अपने देशो की पताका लेकर गये वहा-वहां की राष्ट्रीय स्वाधीनता का दमन करके उनकी जनता को उन्होने पराधीन बनाया। उन्होने वर्षो तक युद्ध जारी रखे, लाखो सैनिकों ने अपने जीवन की आहुतियां दी और अपार धन-सम्पत्ति युद्ध-देवता के चरणो पर चढायी। इस बलिदान के प्रसाद मे उन्हे एशिया और अफ्रीका के देशो मे 'राजनीतिक प्रभुता' प्राप्त हुई। यह उल्लेख करने की आवश्यकता नही कि यह 'राजनीतिक प्रभुता' विजित देशो की स्वाधीनता के लिए घातक सिद्ध हुई। इस तरह साम्राज्यवाद ने अधिकृत देशो की जनता का आर्थिक शोषण करके ही विश्राम नही लिया, बल्कि उनके आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक पतन के लिए भी अविराम प्रयत्न किया है।

---

१ एड ड्राउल्ट 'सोशल एण्ड पोलिटिकल प्रॉब्लॅम्स एट द एण्ड ऑफ द नाइन्टीअथ सेन्चुरी'।

जनता का आर्थिक शोषण

यह तो ऊपर कहा जा चुका है कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद का अन्तिम सोपान है। पूंजीवाद जब उस स्थिति में पहुँच जाता है जबकि किसी देश के पास अपार धन-राशि और तैयार माल जमा हो जाता है, जो स्वदेश की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के बाद भी बच रहता है, तब तैयार अधिक माल को बेचने के लिए दूसरे देशों की खोज की जाती है। बस यही साम्राज्यवाद के उदय का कारण है। एक पूंजीवादी देश दूसरे पूंजीवादी देश में अपना तैयार माल मुनाफे के साथ नहीं बेच सकता। इसीलिए वे ऐसे देशों की खोज करते हैं जो औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए हों। ऐसे ही देशों में वे अपना तैयार माल अधिक मुनाफे के साथ बेच सकते हैं और कच्चा माल सस्ते दामों में खरीद सकते हैं।

साम्राज्यवादी राष्ट्र अधीनस्थ देश के उद्योग-धन्धों का नाश करके जनता को स्वदेशी धनोपार्जन के साधनों से वंचित करता है तथा अपनी पूंजी से उस देश में उद्योग-धन्धे खड़े करता है। इस प्रकार पिछड़े हुए देश में बड़े-बड़े कारखाने खुल जाते हैं और साम्राज्यवादी राष्ट्र पूर्णतया उसके आर्थिक जीवन का नियन्त्रण करने लगता है। कालान्तर में अविकृत देश में भी पूंजीवाद का शासन स्थापित हो जाता है।

राष्ट्रीय जागरण का दमन

साम्राज्यवादी राष्ट्र का हित इस बात में है कि वह अपने अधीन देश या उपनिवेश की प्रजा को सदैव प्रगति तथा प्रकाश से अलग रखे। वह उसे नवयुग की नवीन विचारधारा, संसार की सामाजिक क्रान्तियों के अमर सन्देश तथा ज्ञान-विज्ञान से वंचित रखकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है। अविकृत देश में नवीन प्रगतिशील विचारधाराओं का प्रतिपादन करनेवाले साहित्य और व्यक्तियों पर रोक लगायी जाती है। समाचारपत्रों पर कड़ी नजर रखी जाती है और जब जनता में विदेशी शासन से मुक्ति पाने के लिए [illegible] [illegible] होता है तब उसे कुचल डालने का प्रयत्न किया जाता है, [illegible]

साम्राज्यवादी राष्ट्र यह भलीभांति अनुभव करता है कि राष्ट्रीय जागरण उसके हित के लिए घातक सिद्ध होगा। परन्तु सच तो यह है कि साम्राज्यवादी राष्ट्र अपने सुव्यवस्थित कडे शासन, दमन और शोषण से भी राष्ट्रीय जागरण को रोक नही सकता। ब्रिटेन के सुप्रसिद्ध राजनीतिक लेखक प्रोफेसर श्री हैराल्ड लास्की का कथन है कि **"साम्राज्यवाद पराधीन राष्ट्र की जनता में राष्ट्रीयता को जन्म देता है।"** राष्ट्रीय जागरण तो साम्राज्यवाद की एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है, जिसे रोकने की शक्ति स्वय उसमे भी नही है।

भारत मे राष्ट्रीयता का उदय वग-भग के साथ होता है। इसी समय स्वदेशी-आन्दोलन शुरू होजाता है। सन् १९१४ मे जब यूरोपीय महायुद्ध शुरू हुआ, तब भारत मे राष्ट्रीय असन्तोष अधिक बढ गया। इस असन्तोष को दबाने का ज्यो-ज्यो प्रयत्न किया गया, त्यो-त्यो वह उग्रतर होता गया। और जब युद्ध की समाप्ति पर भारत मे रौलट बिल पास किया गया, तब भारतीय असन्तोष ने उग्रतम रूप धारण कर लिया। इसी समय महात्मा गाधी भारतीय राजनीतिक क्षितिज पर उदय हुए। महात्मा गाधी ने दमन का विरोध करने के लिए जनता को अहिसात्मक आन्दोलन का अस्त्र प्रदान किया। इससे जनता मे निर्भयता, साहस और बलिदान की भावना पैदा हुई।

सच तो यह है कि स्वाधीनता मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। किसी भी राष्ट्र को किसी दूसरे राष्ट्र की जनता को इस मानवीय अधिकार से वचित करने का कोई अधिकार नही है। आजतक साम्राज्यवादी राष्ट्रो ने इस सत्य को अनुभव नही किया। परन्तु इस बीसवी सदी मे यह प्रकाश के समान स्पष्ट है कि कोई भी राष्ट्र सदा के लिए गुलामी मे नही रखा जा सकता। अधिकृत राष्ट्र मे राष्ट्रीयता का विकास और उत्तरोत्तर वृद्धि साम्राज्यवाद के जीवन के लिए सकट है।

विश्व की अशान्ति का कारण

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि साम्राज्यवाद राष्ट्रीय स्वाधीनता

: ५ :

अन्तर्राष्ट्रीयता

आधुनिक काल मे नागरिक-जीवन का सबध केवल अपने नगर, ग्राम या राज्य से ही नही, बल्कि समस्त ससार मे है। मानवता परिवार, नगर और मातृभमि से भी महान् है। परन्तु जाति धर्म, रंग एव राष्ट्रीयता की उग्र भावना के कारण मानव-समाज कृत्रिम विभागो या समुदायो मे विभाजित होगया है। ससार मे जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता जा रहा है, वैसे-वैसे मानव जाति यह अनुभव करती जा रही है कि धर्म, जाति और रग के भेद कृत्रिम है और मानव-एकता मे इन्हे बाधक नही होना चाहिए। अब ससार के मनुष्य यह अनुभव करने लगे है कि मानव-समाज का सगठन सत्य, न्याय और सहकारिता के आधार पर होना चाहिए। ससार के मानव हितैषी वैज्ञानिको ने जो लोकोपयोगी आविष्कार किये है, उनके द्वारा मानव-एकता की भावना अधिक दृढ होती जारही है। बेतार के तार, रेडियो, दूर-दर्शन-यन्त्र आदि आविष्कारो ने मानव-एकता की स्थापना मे बडा सहयोग दिया है। यही नही, प्रत्येक देश और प्रत्येक युग मे ऐसे महापुरुष पैदा होते रहे है और आज भी ऐसे महापुरुष विद्यमान है जो सकीर्ण राष्ट्रीय बधनो से मुक्त मानवता के पुजारी है। भारतवर्ष तो वैदिककाल से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श का समर्थक रहा है। अशोक और बौद्धधर्म के प्रवर्त्तक महात्मा बुद्ध ने विश्वबन्धुत्व के लिए क्रियात्मक प्रयत्न किया। आधुनिक युग मे भी महात्मा गाधी, विश्वकवि डॉ॰ रवीन्द्रनाथ ठाकुर[1] और प॰ जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रीयता के पुजारी होने के साथ-साथ विश्व-नागरिक भी है। भारत की राष्ट्रीयता मानव-हित विरोधी नही है, इसलिए वह अन्तर्राष्ट्रीयता की पोषक है।

---

१ हाल ही में ७ अगस्त १९४१ को आपका देहावसान हो गया है।

प्रत्येक सभ्य राष्ट्र का शासन-प्रबंध जनता या उसके प्रतिनिधियो द्वारा बनाये हुए कुछ मौलिक नियमो के द्वारा होता है, जिन्हे शासन-विधान का नाम दिया गया है। इन नियमो मे स्पष्ट रूप से राज्य, शासन और नागरिको के पारस्परिक कर्तव्यो और अधिकारो का उल्लेख होता है। इन नियमो के अनुसार शासन-प्रबंध होने से नागरिकगण स्वाधीनता का उपभोग करते है। यदि कोई नागरिक किसी दूसरे के अधिकार पर आघात करता है अथवा अपने कर्तव्य-पालन मे त्रुटि करता है, तो समाज या राज्य उसे दण्ड देता है।

हम व्यक्तिगत जीवन मे भी इसी नियम को देखते है। यदि हमारे परिवार का कोई सदस्य किसी दूसरे सदस्य को कोई हानि पहुँचाता है तो परिवार के सब सदस्य उसके ऐसे कार्य की निन्दा करते है, उसका विरोध करते है और उसे अपनी त्रुटि का अनुभव कराने के लिए उससे असहयोग भी करते है।

जब एक परिवार, एक राज्य या एक राष्ट्र मे हम यह व्यवस्था और नियम पाते है तब प्रत्येक राज्य के परस्परिक संबंधो मे इनका पालन क्यो नही होना चाहिए? जब किसी राज्य का कोई व्यक्ति कानून के विरुद्ध कोई काम करता है, तो समाज के हित के लिए राज्य उसे दण्ड देता है, क्योकि यदि राज्य मे सभी व्यक्ति उसी प्रकार कानून के विरुद्ध काम करने लगेगे, तो इससे समाज ने अपने कल्याण के लिए जो नियम बनाये है उनका उल्लंघन होगा और फलत समाज का अनिष्ट होगा। परन्तु जब एक राज्य दूसरे राज्य पर अन्यायपूर्वक आक्रमण करे, तब क्या किया जाये? क्या राज्य को इस प्रकार स्वच्छंद होकर निर्दोष राष्ट्र पर आक्रमण करने दिया जाये? जो राज्य को सर्वोपरि मानते है, वे यह कहेगे कि राज्य पर किसीका नियंत्रण नही है, वह व्यक्तियो की भाँति नैतिक नियमो मे बँधा नही है, इसलिए उसे कौन रोक सकता है? परन्तु हम यह साफ तौर से देखते है कि इस बीसवी सदी मे यह कथन कुछ अप्रासंगिक-सा है। आज हम यह अनुभव करते है कि संसार का कोई देश अलग नही रह सकता। आज पृथकता संभव ही

नही है। सब राष्ट्रो के पारस्परिक संबंध इतने घनिष्ठ होगये हैं कि एक देश की आन्तरिक राजनीति का दूसरे देश की राजनीति पर प्रभाव पड़ता है। तब यह कैसे संभव हो सकता है कि एक सबल राष्ट्र दूसरे पर अन्याय करता रहे और सब राज्य मिलकर उसका विरोध न करें ?

प्रोफेसर रामजे म्यूर ने अन्तर्राष्ट्रीयता के संबंध मे लिखा है —

"अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर प्रगति का मुख्य उद्देश्य राज्यो के बीच पारस्परिक संबंधो में क़ानून की सत्ता स्थापित करना है। किसी राज के पारस्परिक सम्बन्धो में क़ानून की सत्ता का स्पष्ट रूप उस प्रयत्न में दिखलाई देता है जिसके द्वारा उनमें पारस्परिक संघर्ष का अवरोध होता है और शक्ति के निर्णय के स्थान में न्याय के निर्णय की स्थापना की जाती है। अत अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर प्रगति का प्रयोजन अन्त में स्थायी शान्ति के लिए प्रगति ही है।"[1]

राष्ट्रों की अन्योन्याश्रयता

इस युग मे व्यवसाय और उद्योग ऊँची-से-ऊँची स्थिति को पहुँच चुके हैं। एक प्रकार से इस पाश्चात्य उद्योगवाद ने संसार के राष्ट्रो को आत्म-निर्भरता से वंचित कर दिया है। किसी देश मे कोयले की अधिकता है, किसी देश मे लोहा अधिक है, तो दूसरे देश मे पेट्रोल और तेल अधिक है। इसी प्रकार किसी देश मे उद्योग-धन्धे अधिक है, तो कोई देश कृषि की पैदावार मे अग्रगण्य है। कही रबड़ और लाख ज्यादा पायी जाती है, किसी देश मे रूई पैदा होती है, तो किसी देश म मशीन और वनती है, रूई पैदा नही होती। इस प्रकार प्रकृति ने इन प्राकृतिक साधनो का वितरण सारे संसार मे इस ढंग से किया है कि कोई भी एक देश दूसरे देश से संबंध स्थापित किये बिना उद्योग-व्यवसाय में उन्नति नहीं कर सकता। यही कारण है कि कोई राष्ट्र इस युग में आत्म-निर्भरता के सिद्धान्त का प्रयोग नहीं कर सकता।

---

१. प्रोफे० रामजे म्यूर : 'नेशनलिज्म एण्ड इन्टरनेशनलिज्म' (१९१९) पृ० १३८

आर्थिक जीवन मे इसी अन्योन्याश्रयता की भावना ने भिन्न-भिन्न राष्ट्रो मे अपने हितो की रक्षा के लिए दो भावनाओ को जन्म दिया—वे है सहकारिता और प्रतियोगिता। पहली भावना के विकास के परिणाम-स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीयसस्थाओ और सबधो की स्थापना हुई तथा दूसरी भावना—प्रतियोगिता—ने आक्रामक आर्थिक राष्ट्रीयता को जन्म दिया। यह आक्रामक आर्थिक राष्ट्रीयता सहकारिता की विरोधिनी है और यही कारण है कि आज लाख चेष्टा करने पर भी आर्थिक राष्ट्रीयता के कारण कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय उद्योग सफल नही होरहा है।

प्रभुत्व का सिद्धान्त

वर्तमान काल मे प्रभुत्व के सिद्धान्त का विकास अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी सिद्ध होरहा है। इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि ससार मे राज्य ही सर्वोपरि सत्ता है—उसके ऊपर नियत्रण करनेवाली कोई सत्ता नही है। अत राज्य के नागरिको का यह कर्त्तव्य है कि वे केवल राज्य के प्रति राजभक्त रहे, उसीकी पूजा करे उसीके आदेश का पालन करे और जब वह राज्य अपने विस्तार के लिए युद्ध करे तो नागरिको को उसमे पूर्ण सहयोग देना चाहिए। यह प्रभुत्व का सिद्धान्त किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता मे विश्वास नही करता। ऐसी दशा मे यह आशा करना कि राष्ट्रो के नागरिक उस सत्ता के आदेश का पालन करेंगे, व्यर्थ है। अत जबतक यह सिद्धान्त अपने इसी रूप मे कायम रहेगा और इसमे आवश्यक परिवर्तन नही किया जायेगा तबतक किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की सफलता सभव नही है।

प्रोफेसर हैरल्ड लास्की का कथन है—

"प्रभुता-प्राप्त राज्यो (Sovereign States) मे बॅटा हुआ ससार उनके प्रभुत्व-सिद्धान्त के कारण उनके पारस्परिक सबधो का स्थायी शान्ति के आधार पर सफलतापूर्वक सगठन नही कर सकता, क्योकि हमारी आर्थिक प्रणाली की प्रवृत्ति प्रभुत्व (Sovereignty) को समाज मे उन हितो का आश्रय बना देती है जिनके लिए शांति और युद्ध अपने विशिष्ट उद्देश्यो

प्रस्ताव स्वीकार किया गया। अमरीका के राष्ट्रपति विलसन ने राष्ट्रसघ की कल्पना की और अन्य राजनीतिज्ञो के सहयोग से उसे एक अन्तर्राष्ट्रीय जीवित सस्था का रूप दिया गया। १० जनवरी १९२० को राष्ट्रसघ की विधिवत् स्थापना हो गयी।

राष्ट्रसघ के विधान मे उसकी सबसे प्रथम धारा मे उसका लक्ष्य इस प्रकार घोषित किया गया —

"प्रतिज्ञा करनेवाले राष्ट्र, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए युद्ध न करने की मर्यादा को स्वीकार करके, राष्ट्रो में परस्पर प्रकटरूप से न्यायपूर्ण और सम्माननीय सम्बन्धो को कायम रखते हुए विभिन्न राष्ट्रो के पारस्परिक व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय विधान को क्रियात्मक रूप देंगे और यह बात विश्वासपूर्वक ध्यान में रखकर सुसगठित राष्ट्रो की पारस्परिक सन्धियो की प्रतिज्ञाओ का पूरा आदर करते हुए न्याय की रक्षा के लिए राष्ट्रसघ के इस विधान को स्वीकार करते हैं।"

विधान की इस प्रस्तावना मे राष्ट्रसघ के निम्नलिखित सिद्धान्त स्पष्टतया निहित है—

१. अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता, शान्ति और सुरक्षा की स्थापना।
२. युद्ध की रोक।
३. राष्ट्रो मे परस्पर समुचित, प्रकट और सम्मानपूर्ण सम्बन्धो की स्थापना।
४ ससार की सरकारो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अनुसार आचरण।
५ अन्तर्राष्ट्रीय न्याय-व्यवस्था की स्थापना।
६ सन्धियो की समस्त शर्तों का पालन।

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि राष्ट्रसघ के दो मुख्य लक्ष्य हैं— एक तो ससार मे शान्ति की स्थापना और दूसरा युद्धो को रोकना। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिए राष्ट्रो मे परस्पर सहकारिता और सुरक्षा आवश्यक है। राष्ट्रसघ सामूहिक सुरक्षा मे विश्वास करता है और कूटनीति को शान्ति-स्थापना के लिए घातक मानता है। इसलिए

विधान मे यह स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि राष्ट्रसघ के सदस्य-राष्ट्रों मे जो सन्धियाँ होगी वे प्रकट रूप मे की जायेगी । गुप्त रूप मे कोई सन्धि नहीं होगी और उन सन्धियो की सघ के आफिस मे रजिस्ट्री भी होगी । अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता की वृद्धि के लिए अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाएँ मनुष्यो के कल्याणार्थ स्थापित की गयी । युद्ध रोकने की समस्या बडी विकट है । राष्ट्रसघ ने इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा पर जोर दिया तथा नि शस्त्रीकरण के लिए योजना बनाने का विचार किया ।

राष्ट्रसघ के अन्तर्गत दो प्रमुख परिषदे है । पहली असेम्बली कहलाती है और दूसरी कौंसिल । असेम्बली मे प्रत्येक स्वतन्त्र राज्य को अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है । कौंसिल राष्ट्रसघ की कार्य-समिति है । सन् १९३२ मे ससार के कुल ६६ राष्ट्रो मे से ५५ राष्ट्र राष्ट्रसघ के सदस्य थे ।

सयुक्तराज्य अमरीका तो राष्ट्रसघ के जन्म-काल से ही अलग रहा है । सन् १९३२ के बाद अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बिगडती गयी और पुन राजनीतिक क्षितिज पर युद्ध के बादल उमडने लगे । बस, साम्राज्यवादी राष्ट्रो ने एक-एक करके राष्ट्रसघ को छोड दिया । सबसे पहले जापान ने राष्ट्रसघ से त्यागपत्र देदिया । इसके बाद इटली और जर्मनी ने भी उसे त्याग दिया । इस प्रकार सन् १९३२ के बाद राष्ट्रसघ का प्रभाव धीरे-धीरे कम होता गया और अन्त मे वह एक निर्जीव और शक्तिहीन सस्था रह गयी । राष्ट्रसघ की उपर्युक्त दोनो परिषदो के निश्चयो को कार्यान्वित करने के लिए जेनेवा (स्वीजरलैंड) मे उसका एक विशाल अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय है । इसके अन्तर्गगत १३ विभाग है जो अपने-अपने कार्य को चलाते है ।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-सघ

शान्ति-सन्धि के १३वें भाग मे अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-सघ के उद्देश्यो पर प्रकाश डाला गया है । इसमे लिखा है —

"राष्ट्रसघ का उद्देश्य विश्व में शान्ति की स्थापना करना

है और शान्ति उसी समय स्थापित हो सकती है जबकि उसका आधार सामाजिक न्याय हो। आज मजदूरो की वर्त्तमान अवस्था इतनी अन्यायपूर्ण, कष्टमय और विकट है कि बहुतेरे मजदूरो के लिए मुँहताजी होरही है। इसीलिए ससार में इतनी अशान्ति बढ गयी है कि समूचे ससार की शान्ति और सामजस्य ही सकट में है। इस परिस्थिति में शीघ्र ही सुधार होना चाहिए—जैसे मजदूरो के दैनिक कार्य के घण्टे कितने हो कितने घण्टो का दिन माना जाये, कितने दिनो का एक सप्ताह माना जाये, मजदूरो की भरती का नियन्त्रण, बेकारी का निवारण, उचित वेतन निर्धारण करना, जब श्रमिक कार्य-काल में आहत होजायें या व्यथित हो तो उनकी रक्षा करना, बालको, युवको और स्त्रियो का सरक्षण, वृद्धावस्था तथा शरीर से शिथिल होनेपर जीविका की व्यवस्था, प्रवासी मजदूरो के हितो का सरक्षण, पारस्परिक सहयोग से सगठित कार्य करने की सुविधा, व्यावसायिक शिक्षा का प्रबन्ध तथा अन्य सुविधाएँ।"

इस भूमिका से यह स्पष्ट है कि राजनीतिज्ञो को मजदूरो की अवस्था का अनुभव था और वे यह जानते थे कि यदि उनकी दशा मे राज्यो ने सन्तोषप्रद सुधार नही किया तो इससे बडी अशान्ति होगी। अत समस्त प्रमुख उद्योगवादी राष्ट्रो ने एक अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-सघ की स्थापना की। इस सघ के सिद्धान्त इस प्रकार हैं —

(१) सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि श्रम को बाजार मे बेचने-खरीदने की चीज न माना जाये।

(२) मजदूरो व पूँजीपतियो को वैध उद्देश्यो के लिए सगठन करने का अधिकार है।

(३) मजदूरो के पारिश्रमिक (मजदूरी) की दर इतनी पर्याप्त निश्चित की जाये जो उनके देश, काल और स्थिति के अनुरूप व उचित हो।

(४) जिन देशो मे मजदूरो के लिए ८ घटे का दिन तथा ४८ घटे का सप्ताह नही माना जाता, उन देशो मे भी नियम प्रचलित करने का प्रयत्न किया जाये।

(५) यदि सप्ताह मजदूरों को एक दिन की छुट्टी मिलनी चाहिए और, अर्थात् सप्ताह में ... घंटे का दिन निश्चित किया जाये।
(६) बालकों से मजदूरी न ली जाये, जिससे वे उचित शिक्षा प्राप्त कर सकें और उनका शारीरिक विकास हो सके।
(७) पुरुषों और स्त्रियों को समान कार्य के लिए समान मजदूरी दी जाये।
(८) मजदूरों के कार्य का जो वेतन कानून द्वारा निर्धारित किया गया हो वह आर्थिक दृष्टि से न्यायसंगत हो।
(९) प्रत्येक राष्ट्र को अपने देश में ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए कि यह जाँच-पड़ताल की जा सके कि उपर्युक्त सिद्धान्तों का पालन ठीक ढंग से होता है या नहीं। इस जाँच में स्त्रियाँ भी भाग ले।

मजदूर-सघ का सगठन भी राष्ट्र सघ जैसा ही है। उसकी अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् मे प्रत्येक राष्ट्र को प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। उसमे ५६ राज्यो के प्रतिनिधि है। अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् मजदूरो के कल्याण के लिए प्रस्ताव स्वीकार करती है और अपने सदस्य-राष्ट्रो को यह आदेश करती है कि वे उसके अनुसार अपने-अपने देश मे कानून बनाकर उन्हे कार्यान्वित करे। परन्तु यदि कोई राष्ट्र इन प्रस्तावो के अनुसार कार्य न करे, तो सघ उसे ऐसा करने के लिए बाध्य नही कर सकता। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-सघ की एक कार्यकारिणी समिति है और उसका 'सेक्रेटेरियट' भी जेनेवा मे स्थित है। इस कार्यकारिणी मे कुल ३२ सदस्य है। इनमे से ८ सदस्य स्थायी है। भारत भी एक स्थायी सदस्य है।

(३) स्थायी विश्व-न्यायालय

राष्ट्रसघ ने हेग मे एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय की भी स्थापना की है, जो ३० जनवरी सन् १९२२ से अपना कार्य कर रहा है। इस न्यायालय को उन विग्रही राष्ट्रो के अन्तर्राष्ट्रीय झगडो की जाँच करने व निर्णय देने का अधिकार है, जो राष्ट्रसघ के सदस्य है तथा जिन्होने न्यायालय के विधान[1] को स्वीकार कर लिया हो।

---

१. स्टेच्यूट ऑव कोर्ट (Statute of Court)

राष्ट्रसघ की विफलता और उसके कारण

ऊपर कहा गया है कि राष्ट्रसघ अब एक निर्जीव और शक्तिहीन सस्था बन चुकी है, अत उसकी असफलता के कारणो पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। अबतक इस सम्बन्ध मे जो विवेचन,किया गया है, उससे यह भलीभाँति जाना जा सकता है कि राष्ट्रसघ की विफलता के मूल कारण क्या है। फिर भी यहाँ सूक्ष्म रूप मे उनका उल्लेख करना उचित है, जिससे पाठक आसानी से समझ सके और जब भविष्य मे विश्व-शान्ति के लिए किसी विश्व-सस्था की स्थापना की जाये तो उन कारणो के निवारण के लिए प्रयत्न किया जाये

(१) राष्ट्रसघ की स्थापना के बाद ही यूरोपीय देशो मे उसके प्रति विद्रोह उठ खडा हुआ। राज्य साम्राज्यवाद के नशे मे पागल होकर मानवता के आदर्शो को भूल गये और मानव-एकता और विश्व-बन्धुत्व के प्रति उनकी श्रद्धा कम होती गयी। राष्ट्रसघ प्रधान शक्तिसम्पन्न और साम्राज्यवादी राष्ट्रो के हाथ मे स्वार्थ-साधन का अस्त्र बन गया। वह राज्यो के शासनो के प्रतिनिधियो का एक ऐसा गुट बन गया, जो वास्तव मे मानव-समाज का सगठन करने के अयोग्य थे। राष्ट्रसघ का राज्यो के नागरिको से कोई सम्बन्ध न रहा।

(२) असफलता का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण है शक्तिशाली राष्ट्रो की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियाँ। राष्ट्रसघ की स्थापना से इनमे तनिक भी सुधार नही हुआ। प्रभुता के सिद्धात को, जो अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी है, सभी राष्ट्र मानते रहे और इस प्रकार राष्ट्रसघ के निश्चयो का राष्ट्रीय प्रभुत्व के सामने कोई मूल्य ही न रह गया।

(३) विचारधारा-सम्बन्धी-सघर्ष भी राष्ट्रसघ की विफलता के लिए उत्तरदायी है। यूरोपीय महायुद्ध के बाद रूस मे राज्य-क्रान्ति के फलस्वरूप समाजवादी व्यवस्था की स्थापना हुई। समस्त यूरोप मे समाजवाद का प्रचार होने लगा। समाजवादी विचारधारा के प्रतिकूल इटली और जर्मनी मे प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई, और इसके फलस्वरूप फासिज्म और नाजीवाद इन दो नयी विचारधाराओ का

विकास हुआ। इटली में मुसोलिनी ने खुल्लमखुल्ला शान्तिवाद के खिलाफ विद्रोह शुरू कर दिया। इटली के विश्व-ज्ञान-कोष में मुसोलिनी ने लिखा है —

"फासिज्म का न तो शाश्वत शान्ति की आवश्यकता में विश्वास है और न उसकी उपयोगिता में। शान्तिवाद में संघर्ष से बचने की प्रवृत्ति छिपी हुई है। वह मूलतः कायरता ही है। इसलिए 'फासिज्म' बलिदान के मुकाबिले में शान्ति को ठुकराता है। युद्ध और सिर्फ युद्ध में ही मनुष्य की शक्तियों की अधिक-से-अधिक परीक्षा होती है और उसे स्वीकार करने का साहस करनेवाली जातियों के सिर पर ही उच्चता का सेहरा बँधता है। और सब तरह की परीक्षाएँ नकली हैं। वे मनुष्य के सामने जीवन या मरण के चुनाव का सवाल पेश नहीं करतीं।"

इसी प्रकार जर्मनी में हेर हिटलर ने जर्मनों की सोयी हुई हिंसा-वृत्तियों को जगाने के लिए एक आत्मचरित लिखा और उसमें हिंसा, युद्ध और साम्राज्यवाद का यश गाया। उसमें लिखा —

"यदि कोई जीवित रहना चाहता है, तो उसे लड़ाई करनी चाहिए। और यदि कोई इस सतत संघर्षशील संसार में लड़ाई के प्रति उदासीन है, तो उसे जीवित रहने का अधिकार नहीं।"[1]

"ऐसा समझौता—गुटबन्दी—जिसका उद्देश्य युद्ध में पड़ना नहीं है, बेकार और व्यर्थ है।"[2]

स्पष्ट है कि ये विचारधाराएँ शान्तिवाद और राष्ट्रसंघ के लक्ष्य के विरुद्ध हैं। जर्मनी और इटली आज १० वर्षों से भी अधिक समय से सारे यूरोप में हिंसावाद, युद्ध और संघर्ष का प्रचार कर रहे हैं।

(४) राष्ट्रसंघ के आन्तरिक संगठन की त्रुटियाँ भी उसकी विफलता के लिए कम उत्तरदायी नहीं हैं। राष्ट्रसंघ स्वतन्त्र सदस्य-राष्ट्रों की सरकारों के प्रतिनिधियों की संस्था है। राष्ट्रसंघ की सत्ता

१-२ हेर हिटलर: 'माइन कैम्फ' (मेरा संघर्ष) १८ वाँ जर्मन संस्करण, पृष्ठ ३१७ और ७४१।

वास्तव मे प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र की सरकार मे निहित है। स्वतत्र राष्ट्रो के समझौते से सघ का विधान बना है। इसलिए अन्य सन्धियो की तरह राष्ट्र उसका भी उल्लघन कर सकते है। और उसका जीवन उसके सदस्यों की शुभकामना पर निर्भर है। राष्ट्रसघ मे प्रतिनिधित्व की प्रणाली बडी दोषपूर्ण है। वह राज्यो के नागरिको की सख्या नही है, बल्कि सरकारो की गुटबन्दी है। दूसरा बडा दोष यह है कि राष्ट्रसघ वास्तविक अर्थ मे पार्लमेंट नही है। वह राज्यो के नागरिको के लिए विधान या कानून नही बना सकता। राष्ट्रसघ की कार्य-पद्धति मे भी दोष है। किसी निर्णय के लिए सर्वसम्मत होना आवश्यक है। सिर्फ ४० लाख स्विस प्रजा के प्रतिनिधि अपने एकमत से किसी भी निर्णय को रद्द कर सकते है।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग का सर्वप्रथम और आधारभूत सिद्धान्त यह है कि ससार के सब राष्ट्रो के नागरिको मे मानवता के प्रति श्रद्धा हो। मानवता और मानव-आदर्शो के प्रति अनन्य श्रद्धा की भावना ही मानव-एकता को प्रेरणा और स्फूर्ति प्रदान कर सकती है। नागरिको को यह अनुभव कराने की आवश्यकता है कि मानवता धर्म, जाति, सभ्यता और वर्ण (रग) के बन्धनो से ऊपर है। जबतक राष्ट्रो मे नागरिको द्वारा मानवता के प्रति यह आदर-भाव पैदा न किया जायेगा तबतक सच्ची और स्थायी सहकारिता एव शान्ति की स्थापना सम्भव नही है।

ससार मे शान्ति की स्थापना करने मे प्रत्येक राष्ट्र का सहयोग आवश्यक है। हर राष्ट्र को अपना यह धर्म स्वीकार करना चाहिए कि वह ससार की शान्ति-रक्षा के लिए उत्तरदायी है। यदि यूरोप के किसी छोटे देश पर कोई अन्याय होता है, तो अमरीका को यह सोचकर अलग न रहना चाहिए कि उससे अमरीका के हितो का कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसी प्रकार एशिया में किसी राष्ट्र पर कोई अन्यायपूर्ण आक्रमण होता है, तो यूरोप के बड़े राष्ट्रों का यह भाव नहीं होना चाहिए कि इससे यूरोप का कोई सम्बन्ध नहीं है। संसार के किसी भी भाग में होनेवाला छोटे-से-छोटा उपद्रव विश्व-शान्ति के लिए घातक है, यह प्रत्येक राष्ट्र को भली-भांति समझ लेना चाहिए।

संसार के एक बहुत बड़े भाग में ऐसे राष्ट्र एवं जातियां भी हैं जो राजनीतिक, आर्थिक एवं औद्योगिक दृष्टियों से पिछड़ी हुई हैं और जो इस समय साम्राज्यवादी राज्यों की साम्राज्य-लिप्सा की शिकार हैं। राष्ट्रसंघ ने ऐसे राष्ट्रों व पिछड़ी हुई जातियों का शासन-प्रबन्ध शासनादेश-प्रणाली के अन्तर्गत विगत युद्ध के विजेता राष्ट्रों के हाथ में देकर उन्हें उनका भाग्य-निर्णायक बना दिया। ऐसी पिछड़ी तथा पराधीन जातियां एशिया और अफ्रीका में अधिक हैं। अब समस्या यह है कि इनके संबंध में, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए क्या किया जाये? इसके लिए सबसे पहले अन्तर्राष्ट्रीय समाज को यह सिद्धान्त बिना किसी अपवाद के स्वीकार करना चाहिए कि प्रत्येक राष्ट्र को स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक पराधीन राष्ट्र को स्वाधीनता दे दी जाये तथा उनकी रक्षा के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन नियुक्त किया जाये। इस कमीशन का कार्य इस प्रकार स्वतंत्र किये गये राष्ट्रों को सबल राष्ट्रों की कोप-दृष्टि से बचाना हो।

इस प्रकार संसार के प्रत्येक राष्ट्र को, चाहे वह एशियायी राष्ट्र हो या अफ्रीकन, अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में समानता का अधिकार होना चाहिए। इस प्रकार जातीय प्रश्न का एकदम खात्मा होजाना ही श्रेयस्कर होगा।

राष्ट्रों के आपसी झगड़ों के फैसले के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय होना चाहिए जिसमें सभी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निर्णय किया जाये। प्रत्येक राष्ट्र को इस न्यायालय में ही अपने ऐसे विवाद का निर्णय कराने के लिए सन्नद्ध होना चाहिए। इस न्यायालय में सभी राष्ट्रों का विश्वास होना जरूरी है। कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न इस न्यायालय

की अधिकार-सीमा के बाहर न होना चाहिए और न किसी राष्ट्र को इस सबध मे कोई विशेष रियायते दी जानी चाहिएँ।

अन्तर्राष्ट्रीय विधान का निर्माण किया जाना और प्रत्येक राष्ट्र से उसका पालन कराने की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

समस्त राष्ट्रो मे पारस्परिक सहयोग तथा विश्व-शान्ति के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन स्थापित होना चाहिए। यह सगठन सघ के सिद्धान्त के आधार पर कायम हो। प्रत्येक राष्ट्र को अपने सामान्य मामलो का नियत्रण और प्रबध इस सगठन को सौंप देना चाहिए।

यह अन्तर्राष्ट्रीय सगठन वैदेशिक नीति, अन्तर्राष्ट्रीय सेना, आर्थिक नीति, अन्तर्राष्ट्रीय राजस्व, उपनिवेशो की समस्या, अन्तर्राष्ट्रीय यातायात, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा और प्रवास आदि मामलो का प्रबध कर सकता है।

हमने सक्षेप मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के सिद्धान्तो की रूपरेखा तथा मौलिक सिद्धान्तो का विवेचन किया है। इनपर विस्तृत रूप से विचार उसी समय किया जा सकता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की कोई व्यावहारिक और श्रेष्ठ योजना तैयार की जाये।

ससार की एकमात्र अन्तर्राष्ट्रीय सस्था राष्ट्रसघ के पतन के कारणो पर विचार करके उनके निवारण का प्रयत्न करना चाहिए। राष्ट्रसघ के पतन से हमे यह न समझ लेना चाहिए कि ससार मे अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता सभव ही नही है बल्कि उसके लिए उचित तरीके से प्रयत्न करना चाहिए।

: ६ :

भारतवर्ष और अन्तर्राष्ट्रीयता

अन्तर्राष्ट्रीय समाज मे भारतवर्ष का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है। यद्यपि भारतवर्ष इस समय अपनी राजनीतिक स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए अग्रसर है, तो भी इसमे कुछ भी सन्देह नही कि भारत विश्व-शान्ति के लिए आज भी सर्वश्रेष्ठ देन देने की क्षमता रखता है। चाहे जिस दृष्टि से देखा जाये, भारत विश्व-बन्धुत्व के आदर्श को कार्यरूप मे परिणत करने मे समर्थ है। भारत का प्राचीन इतिहास हमारे इस कथन की सचाई प्रकट करता है।

भारत का विश्व-प्रेम

ससार के प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान और पुरातत्ववेत्ता इस बात में एकमत हैं कि भारत की सभ्यता, संस्कृति और सस्थाएँ विश्व मे प्राचीनतम है। जैसे-जैसे साहित्य, विज्ञान, राजनीति आदि के क्षेत्रो मे अन्वेषण और अनुसधान होते जारहे है, वैसे-वैसे यह प्रकट होता जारहा है कि भारतवर्ष न केवल आध्यात्मिक जगत् में ही शिरोमणि रहा है, प्रत्युत साहित्य, कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान, समाज-नीति और राजनीति मे भी किसी सभ्य राष्ट्र से पीछे नही रहा। कुछ ही समय पहले पाश्चात्य यूरोपीय विद्वानो की दृष्टि मे भारत एक ऐसा 'दार्शनिकों का देश' था, जहाँ केवल साधु-महात्माओ की ही पूजा होती हो। परन्तु राजनीति और इतिहास के सुविख्यात भारतीय विद्वान प्रो० बेनीप्रसाद ने अपने खोजपूर्ण ग्रन्थ 'प्राचीन भारत मे राज्य की स्थिति'[1] और 'प्राचीन भारत में शासन का सिद्धान्त'[2] तथा भारत-विख्यात इतिहासवेत्ता स्व०

---

१ 'द स्टेट इन ऐंशियण्ट इण्डिया'।

२ 'थिअरी ऑव गवर्नमेण्ट इन ऐंशियण्ट इण्डिया'।

डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने अपने सुविख्यात ग्रन्थ 'हिन्दू राजतन्त्र'[1] द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि भारतवर्ष केवल आध्यात्मिक जगत् मे ही शिरोमणि नही रहा है परन्तु राजनीति मे भी अग्रगण्य रहा है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' इस विषय का अनुपम ग्रन्थ है।

समस्त भारतीय साहित्य विश्व-सस्कृति और विश्व-प्रेम की विचार-धारा से ओतप्रोत है। वैदिक सस्कृति की सबसे बडी विशेषता यही है कि वह लोकसग्रह अर्थात् मानव-समाज के कल्याण को प्रमुख और ऊँचा स्थान देती है। वैदिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे लोकसग्रह का सिद्धान्त अन्तर्भूत है। इसी विशेषता का फल है कि भारत-भूमि मे सदैव से विश्व-भावना की पूजा होती रही है। आज भी भारत मे जिस राष्ट्रीयता का यशोगान होरहा है, उसका भी आधार विश्व-प्रेम और लोकसग्रह ही है।

'वैदिक सस्कृति के अनुसार विश्व-प्रेम और देश-प्रेम एक-दूसरे के विरोधी नही है, प्रत्युत पूरक भाव है। जिस प्रकार एक मनुष्य अपने कुटुम्ब से अनुराग रखता हुआ भी देशभक्ति से मुख नही मोडता, राष्ट्र-हित मे अपने व्यक्तिगत हितो का बलिदान करने के लिए तत्पर रहता है, उसी प्रकार एक सच्चा देशभक्त भी विश्व-हित के लिए अपना सब-कुछ अर्पण कर सकता है। जिन विचारको का यह कथन है कि राष्ट्रीयता (देशभक्ति) विश्व-प्रेम के लिए घातक है, उन्हे अपना यह कथन आधुनिक उग्र राष्ट्रीयता के लिए ही सीमित रखना चाहिए। जो राष्ट्रीयता हमे दूसरो से द्वेष करना नही सिखलाती, वह हमारे विश्व के लिए अवाछनीय किस प्रकार हो सकती है ?'[2]

अथर्ववेद के पृथिवी-सूक्त अ० १२-१ मे ऐसे ही भाव मिलते है—

"हे पृथिवी! मरणधर्मा पदार्थ अथवा मनुष्य तुझसे उत्पन्न होते है और तुझमें ही विचरण करते है—निवास करते है, तू द्विपद (मनुष्य)

---

१ 'हिन्दू पॉलिटी'।

२ रामनारायण यादवेन्दु 'राष्ट्रसघ और विश्व-शान्ति, पृ० २३५

और चतुष्पद (चौपायो आदि) का पालन-पोषण करती है। जिन मनुष्यो के लिए उदय होता हुआ सूर्य्य किरणो के द्वारा अमृत, जीवन-प्रद प्रकाश भली प्रकार देता है, फैलाता है, वे पाँचो मानव जातियां (गौर, लाल, धूमर, पीत और कृष्ण) तेरी ही है।

[पृ० सू० अध्याय १२-१ १५ वां श्लोक]

"वे सब प्रजाएँ हमें मिलकर—इकट्ठी होकर—भरपूर करें और हे पृथ्वी ! तू वाणी की मधुरता मुझे दे।

[पृ० सू० अ० १२-१ १६ वां श्लोक]

"हे मातृभूमि ! तू इकट्ठा रहने का महन् स्थल है अतएव तू महती पूजनीया है। तेरा वेग, गति, एव कम्पन महान् है और महिमा-सम्पन्न, महत्त्वशाली, सूर्य्य परमात्मा अथवा ऐश्वर्य सम्पन्न राजा प्रमादरहित होकर तेरी रक्षा करता है। ऐसी तू भूमि प्रकाश की चमक की भांति हमें उत्तम रीति से चमका, प्रवृत्त कर जिससे हमसे कोई द्वेष-स्पर्द्धा न करे।' [पृ० सू० अ० १२-१ १८ वां श्लोक]

अन्यत्र लिखा है —

"यथास्थान अथवा एक गृह के सदृश नाना भाषाएं बोलनेवाले और अनेक व्यवसायवाले जनों को धारण करती हुई यह पृथिवी निश्चेष्ट तथा निश्चल गौ की भांति मुझे धन की हजारों धाराएँ दुहाये।

[पृ० सू० अ० १२-१ ४५ वां श्लोक]

वैदिक संस्कृति में समस्त मानव समाज एक परिवार है परन्तु विभिन्न भाषा, रंग-रूप व्यवसाय आदि के कारण वह अनेक भागों में बँट गया है। जिस प्रकार एक परिवार के सदस्य विविध भाषा, साहित्य और व्यवसाय में अनुराग रखते हुए भी परिवार-बंधन में ग्रथित रहते हैं उसी प्रकार समस्त मानव-समाज भी एकता के सूत्र में बंधा रह सकता है।

पृथिवी-सूक्त के उक्त १५ वें श्लोक में विश्व-प्रेम का आदर्श [illegible] उच्चतम रूप में वर्णित हुआ है। पृथ्वी पर निवास करनेवाली पाँचों मानव जातियों को समानता का अधिकार है। [illegible] [illegible] की यह [illegible] नहीं है कि वैदिक ने गौर वर्ण की जातियों को ही [illegible]

शासन करने के लिए पैदा किया है और पीत तथा कृष्ण वर्ण की जातियाँ तो शासित होने के लिए ही पैदा हुई हैं । इसे यूरोपीय 'गौर जातियों का भार' (White man's Burden) कहते हैं । यूरोपीय जातियों में जातीयता की भावना इतनी उग्र है कि वे सारे संसार में गोरों का प्रभुत्व चाहती हैं । आज यूरोप इसीके अभिशाप से पीड़ित है ।

विश्व-बंधुत्व और सम्राट् अशोक

भारत में विश्व-प्रेम के सिद्धान्त केवल साहित्य और धर्म-ग्रन्थों तक ही सीमित नहीं रहे हैं, प्रत्युत् जीवन में—व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों में—उनको चरितार्थ किया गया है । व्यक्तिगत जीवन के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं । किन्तु हम यहाँ अहिंसा, प्रेम और विश्व-बंधुत्व का एक ऐसा उदाहरण देना चाहते हैं, जैसा संसार के इतिहास में दूसरा नहीं मिलेगा ।

मानवता को एक सूत्र में बाँधने एवं संसार में प्रेम का साम्राज्य स्थापित करने में सम्राट् अशोक ने जो प्रयत्न किया वह वास्तव में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है । राष्ट्रपति विल्सन प्रियन्ड, अमरीका के शान्तिवादी निकोलस बटलर मरे (जिन्हें गत वर्ष शान्ति का नोबुल पुरस्कार मिला है), रोरिच, रोम्याँ रोलाँ और महात्मा गाँधी आदि महापुरुषों के सामूहिक प्रयत्न अशोक के कार्य की ही परम्परा है । प्रसिद्ध अंग्रेज इतिहास-लेखक श्री० एच० जी वैल्स ने अशोक के सम्बन्ध में लिखा है—

'अशोक पहला सम्राट है, जिसने मनुष्यों के सच्चे उद्देश्य और जीवन-पथ को लक्ष्य में रखकर मनुष्य जाति को शिक्षित किया । उसने विशाल सेना और बड़ी भारी शक्ति के होते हुए भी, सैनिक और राजनीतिक विजय नहीं की । उसने अपने शौर्य, पराक्रम और वीरता को दिखाने के लिए किसी राष्ट्र पर आक्रमण नहीं किया, किसी देश का सर्वनाश करने के लिए, किसी राष्ट्र को गुलाम बनाने के लिए, सुन्दर नगरों को धूल में मिलाने के लिए, आहतों, पीड़ितों और दुःखितों के अभिशाप से, हाहा-

कार से और आँसुओ से भरी पृथ्वी को अधिक बोझल तथा दु खि
मानव-समाज को अधिक दु खी नहीं किया। उसने धर्म-विजय की, धर्
भिक्षुको द्वारा अतृप्त और सतप्त ससार को प्रेम और धर्म का अमृत-पा
कराया।"

अपने चतुर्दश शिला-लेख मे अशोक ने लिखवाया है —

"धर्म-विजय को ही 'देवताओ के प्रिय' प्रियदर्शी मुख्यत विजय मान
है। इस धर्म-विजय को 'देवताओ के प्रिय' ने यहाँ (अपने राज्य में) तथ
छह सौ योजन दूर पडोसी राज्यो में प्राप्त किया है, जहाँ अन्तयो
नामक यवन राजा राज्य करता है, और अन्तयोक के बाद तुरमय
अलिकिति, यक और अलिकसुन्दर नाम के चार राजा राज्य करते है
और उन्होने अपने राज्य के नीचे (दक्षिण में) चोल, पाड्य तथा ताम्रपर्णि
में भी धर्म-विजय प्राप्त की है। उसी प्रकार हिदराजा के राज्य में तथ
विषवज्रियो में, यवनो में, कम्बोजो में, नाभक नाभ-पक्तियो में, भोज
में, पिति निकाय आन्ध्रो में और पुलिन्दो में सब जगह लोग देवताओ
के प्रिय का धर्मानुशासन अनुसरण करते है और अनुसरण करेंगे। जहाँ
जहाँ 'देवताओ के प्रिय' के 'दूत नहीं पहुँच सकते, वहाँ-वहाँ लोग 'देवताओ के
प्रिय' का धर्माचरण, धर्म-विधान और धर्मानुशासन सुनकर धर्म के अनु
सार आचरण करते है। इस प्रकार सर्वत्र जो विजय हुई है, वह विजय
वास्तव में सर्वत्र आनन्द देनेवाली है। धर्म-विजय में जो आनन्द है, वह
बहुत प्रगाढ़ है, पर वह आनन्द क्षुद्र वस्तु है। 'देवताओ के प्रिय' पारलौकिक
कल्याण को ही बडी भारी वस्तु समझते है। इसलिए यह धर्म-लेख लिखा
गया है कि मेरे पुत्र और पौत्र जो हो, वे नया देश विजय करना अपना
कर्तव्य न समझें। यदि कभी वे नया देश विजय करने में प्रवृत्त हो, तो
उन्हे शांति और नम्रता से काम लेना चाहिए और धर्म-विजय को ही
सच्ची विजय मानना चाहिए। उससे इस लोक और परलोक दोनों
जगह सुख-लाभ होता है। उद्योग ही उसके आनन्द का कारण हो,
क्योंकि उससे इहलोक और परलोक दोनो सिद्ध होते है।'

अशोक ने [illegible] शिला-लेख में लिखा है —

"' 'सब मनुष्य मेरे पुत्र है, और जिस प्रकार मै चाहता हूँ कि मेरे पुत्रगण सब तरह के हित और सुख को प्राप्त करे, उसी प्रकार मै चाहता हूँ कि सब मनुष्य ऐहिक और पारलौकिक सब तरह के हित और सुख का लाभ उठावे। आप लोग इस बात पर ध्यान दे, क्योकि यह नीति श्रेष्ठ है।"

"अशोक ने २८ वर्षो तक मनुष्यो की वास्तविक आवश्यकताओ के लिए कार्य किया। इतिहास के पृष्ठो में जिन हजारो सम्राटो, राजा-महाराजो आदि का उल्लेख है, उनमें केवल अशोक का नाम आकाश में तारे के समान जगमगाता है। वोल्गा से जापान तक आज भी उसका नाम आदर के साथ लिया जाता है। चीन, तिब्बत और भारत में भी (यद्यपि उन्होने अशोक के सिद्धान्तो का परित्याग कर दिया है) उसकी महानता की परम्परा सुरक्षित है। आज भी जीवित मनुष्यो में अशोक की स्मृति कान्स्टेनटाइन या चार्लमेगन की यादगार से कही अधिक जाग्रत है।' ये है अशोक के प्रति विश्व के एक महान् इतिहास-वेत्ता श्री एच० जी० वैल्स के विचार। श्री वैल्स के इस कथन की सचाई मे सन्देह करना अज्ञता होगी, परन्तु भारत के सम्बन्ध मे उन्होने जो-जो कहा है उसके सम्बन्ध मे इतना और कहना पर्याप्त होगा कि आधुनिक काल मे भी भारत ने अशोक की परम्परा का त्याग नही किया है। आजके युग मे महात्मा गाधी का अहिंसात्मक आन्दोलन अशोक के ही सिद्धान्तो का प्रतीक है।

हमारे कथन का सार यह है कि भारत प्राचीन समय से ही विश्व-प्रेम, विश्व-बन्धुत्व और अन्तर्राष्ट्रीयता का पुजारी रहा है। आज भारत अपनी स्वाधीनता की सिद्धि मे लगा हुआ है और हमारा यह ध्रुव विचार है कि स्वाधीन भारत विश्व मे सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता को जन्म देने मे सफल होगा।

ससार की स्थिति और भारतवर्ष

आक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय के राजनीति के प्रोफेसर श्री एल्फ्रेड जिमर्न

ने भारत के सम्बन्ध मे अपने एक विचार-पूर्ण निबंध में लिखा है —

"...आनेवाले युग में भारत विश्व-राजनीति का प्रकाश-स्तम्भ बनेगा। अधिक स्पष्ट शब्दों में इसका अर्थ यह है कि यदि भारत ब्रिटिश कॉमनवेल्थ से अपना सम्पर्क बनाये रखेगा और दूसरी ओर कॉमनवेल्थ भी भारत को अपने संघटन में समुचित पद प्रदान करेगा तो विश्व-शांति और मानव-समाज के अभ्युदय का मार्ग अत्यधिक प्रशस्त हो जायेगा। यदि भारत और दूसरे ब्रिटिश उपनिवेशो के बीच समानता के आधार पर सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न विफल रहा, तो उसका परिणाम न केवल कॉमनवेल्थ पर प्रत्युत समग्र मानव-समाज पर पड़ेगा। अन्तर्जातीय संघर्ष के लिए एक विशाल रंगमंच तैयार होजायेगा।"[१]

प्रोफेसर ज़िमर्न के कथन से यह स्पष्ट होजाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय समाज मे भारत का स्थान अद्वितीय है। परन्तु भारत के पराधीन देश होने से मानव-समाज की उन्नति में बड़ी अड़चन होरही है। राष्ट्रसंघ में या विश्व की राजनीति में अधीनस्थ राज्यों का कोई स्थान नहीं है। वैसे भारतवर्ष राष्ट्रसंघ के जन्म-काल से ही उसका मौलिक सदस्य रहा है, परन्तु उसकी सदस्यता के कारण उसे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ और न विश्व-शान्ति की समस्या के समाधान मे ही कोई योग मिला है। भारत का राष्ट्रीय लोकमत प्रारम्भ से ही राष्ट्रसंघ की सदस्यता का विरोधी रहा है। यह इसलिए नहीं कि भारत राष्ट्रसंघ के आदर्शों में विश्वास नहीं करता, बल्कि इसका कारण यह है कि वर्तमान परिस्थिति में, जबकि राष्ट्रसंघ यूरोप के महान् राष्ट्रों के कूटनीतिज्ञों का एक गुप्त मण्डल बन गया है, भारत का राष्ट्रसंघ से सम्बद्ध रहना किसी के लिए हितकर नहीं होसकता।

इस प्रतिवर्ष सितम्बर मास में भारत की ओर से राष्ट्रसंघ की असेम्बली के अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए प्रतिनिधि-मण्डल जेनेवा भेजा जाता है, परन्तु यह प्रतिनिधि-मण्डल सच्चे अर्थों में भारत

१ हौस्टन और बेदी 'इण्डिया एनेलाइज्ड' (१), पृ० १५

मित्रता का सम्बन्ध बनाने मे प्रयत्नशील है वहा ब्रिटिश शासन की नीति उसके सर्वथा विपरीत रही आरही है और दूसरे देशो मे भारत का सम्बन्ध दृढ रखना तो दूर उसके अपने अगो—ब्रह्मा, लका आदि—को ही उससे विच्छिन्न किया जारहा है।

१ अप्रैल १९३७ तक ब्रह्मा भारत का ही एक प्रात था। परन्तु इसके बाद से ब्रह्मा को भारत से पृथक् करके एक स्वतन्त्र किन्तु ब्रिटिश सरकार के अधीन देश बना दिया गया है। यही नही, ब्रह्मा के लिए अलग शासन-विधान भी बनाया गया है जिसके अनुसार उसका शासन होरहा है। ब्रह्मा मे १० लाख भारतीय निवास करते है। वहाके व्यवसाय और कृषि मे १० करोड रुपये की भारतीय पूंजी लगी हुई है। वहां मद्रास के बहु-सख्यक महाजन, बिहार-बगाल के मजदूर और भारतीय सरकारी नौकर तथा वकील आदि है। अब इनमे और ब्रह्मा के लोगो मे प्रतिस्पर्द्धा बनी रहने लगी। इस प्रतिस्पर्द्धा और भारतीयो के प्रति ब्रह्मी लोगो की घृणा का दुष्परिणाम यह हुआ है कि भारतीय ब्रह्मा के चावल, लकडी और तेल का बहिष्कार कर रहे है।

लका मे भी भारतीय मजदूरो की सख्या ८ लाख है। वहाँ भारतीय पूंजी और भारतीय शिक्षितो का अभाव है। भारतीय मजदूरो के साथ भेदभाव किया जाता है। स्थानीय सस्थाओ के चुनावो मे ग्राम्य मताधिकार के सम्बन्ध मे भी भारतीयो के साथ भेदभाव से व्यवहार किया जाता है। इसका भी दुष्परिणाम यह हुआ कि भारतवासी लका के नारियल तथा दूसरी चीजो का बहिष्कार कर रहे है।

प्रवासी भारतीय

प्रवासी भारतीयो की समस्या के विशेषज्ञ स्वामी भवानीदयाल सन्यासी ने अपने एक लेख मे प्रवासियो की स्थिति के सम्बन्ध मे लिखा है —

"इस समय संसार में भिन्न-भिन्न देशो और उपनिवेशो में प्रवासी भारतीयो की जन-सख्या लगभग २५ लाख है। जहाँ-जहाँ वे बसे हुए

हैं, वहां-वहां उनको अपने देश की पराधीनता के कारण अपमान का कडवा घूंट पीना पडता है। पौन सदी तक जारी रहनेवाली शर्तबदी-प्रथा का इतिहास वास्तव में भारतीयो की अपकीर्ति का ही इतिहास है और उसमें विशेषत अन्यायो, अत्याचारो और अपमानो के ही अध्याय मिलेगे। यद्यपि अनेक सहृदय महानुभावो के उद्योग से अब इस प्रथा का अन्त होगया है, तो भी इससे उत्पन्न स्थिति की सीमा अभी अगोचर है। इतने आन्दोलनो और बलिदानो के बाद भी न तो प्रवासियो के सकट का अन्त हुआ है और न उनकी अवस्था में आशा-जनक अन्तर ही पडा है। मजा तो यह है कि ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत उपनिवेशो में उन्हे सबसे अधिक अपमान के धक्के सहने पडते हैं।'[१]

दक्षिण अफ्रीका मे प्रवासी भारतीयो के कष्टो की कहानी बहुत लम्बी पुरानी और चिरपरिचित है। महात्मा गाधी ने यह सारी कथा 'दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह' के रूप मे लिखी है, विस्तार से जानने के लिए पाठकगण उसे पढे।

अफ्रीका के उन प्रदेशो मे जहा ब्रिटिश साम्राज्य है प्रवासी भारतीयो की स्थिति स्मट्स के शब्दो मे इस प्रकार है —

" दक्षिण अफ्रीका में हम रगीन जातियो को गोरो के साथ समानता का पद नही दे सकते। हमारी समानता मौलिक रूप से इस सिद्धात पर आश्रित है कि धर्म और राज्य में गोरो और रगीन जातियो के बीच कोई समानता नहीं हो सकती।'

ये शब्द दक्षिण अफ्रीका की यूनियन के प्रधान-मत्री और राष्ट्रसघ के एक भाग्य-विधाता के हैं। जातीयता की यह भावना कितनी उग्र है!

दक्षिण-अफ्रीका मे प्रवासी भारतीयो की परिस्थिति वस्तुत अत्यन्त शोचनीय है। वहाँ जातीयता का सबसे उग्र रूप देखने को मिलता है। वहा भारतीय 'कुली' समझे जाते है और उनके साथ वैसा ही व्यवहार

---

१. स्वामी भवानीदयाल सन्यासी · प्रवासियो की परिस्थिति ('सरस्वती', जनवरी १९३७ ई०)।

किया जाता है। वहाँ स्वामी भवानीदयाल सन्यासी के शब्दो मे—

"आज भी भारतीयो के लिए ट्रामो और ट्रेनो में अलग डिब्बे हैं। डाकघरो, स्टेशनो और दफ्तरो में रग-भेद का नग्न प्रदर्शन है। होटलो और थियेटरो के दर्वाजे उनके लिए बद है। न उन्हे पार्लमेण्टरी मताधिकार है और न म्यूनिसिपल। कुलीगिरी के सिवा उन्हे और कोई सरकारी नौकरी नही मिल सकती। जो भाई खेती और रोजगार करते हैं उनकी राह में इतने कांटे बिखेर दिये गये हैं कि वे पग-पग पर चुभते हैं। राम और कृष्ण के वशज एव बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, शकर और दयानन्द के अनुयायी यहाँ असभ्य हब्शियो से भी निम्नतर समझे जाते हैं।"

दक्षिण अफीका के राष्ट्रवादी श्वेतागो की परिषद् ने हाल मे जो प्रस्ताव पास किया है वह यह है —

"यूरोपीय ईसाई सस्कृति की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि यूरोपीयो और अयूरोपीयो में यथासम्भव अन्तर रखा जाये, उनका विवाह-सबध कानून से जुर्म ठहराया जाये, अयूरोपीय स्कूलो में अन्य वर्णों के साथ गौराग अध्यापक की नियुक्ति रोकी जाये, कोई भी श्वेताग किसी अश्वेताग से नौकरी में नीचे के ओहदे पर न रखा जाये और गोरी स्त्रियाँ अयूरोपीयो के यहाँ नौकरी करने से रोकी जायें।"

नेटाल तथा ट्रासवाल (दक्षिण अफीका) मे श्वेतागो ने स्वत भारतीयो को बसाया था, पर उनके साथ बीभत्स पाप और अत्याचार किये गये। उनपर व्यापारिक प्रतिबन्ध लगाये गये और ऐसे कानून बनाये गये जिमसे वे भूमि के स्वामी न बन सके। उनके लिए यूरोपियो से पृथक् मुहल्ले बनाये गये। सन् १९२८ मे जनरल स्मट्स की सरकार के पतन के बाद नयी सरकार ने प्रवासी भारतीयो के साथ और भी सख्ती से व्यवहार किया। यह अत्याचार यही तक समाप्त नहीं हुआ। रग-प्रतिबध कानून (Colour Bar Bill) के जो बाद मे कानून के रूप मे बदल गया, अनुसार सरकार भारतीयो को दूसरे अयूरोपीयो की भाँति दक्षतापूर्वक किये जानेवाले काम-धन्धो (skilled occupations) से

वंचित कर सकती है।

केनिया और युगाण्डा की अवस्था भी करुणाजनक और शोचनीय है। यद्यपि केनिया की व्यवस्थापिका सभा मे प्रवासी भारतीयो के पाँच प्रतिनिधि है, तो भी अल्पसंख्यक होने के कारण उनकी आवाज मे कुछ बल नही है। केनिया के पठार (Highland areas) श्वेतांगो के लिए सुरक्षित है। केनिया के निकट टैंगेनिका प्रदेश है। पहले यह जर्मनी का उपनिवेश था। परन्तु यूरोपीय महायुद्ध के बाद सन् १९२० से इसका शासन-प्रबन्ध राष्ट्रसंघ की शासनादेश-प्रणाली (Mandate System) के अन्तर्गत अंग्रेजो द्वारा किया जाता है। यहाँ भारतीयो के साथ समानता का व्यवहार किया जाता है।

आस्ट्रेलिया मे एक समय की कॉमनवैल्थ ने भारतीयो का प्रवास सर्वथा रोक दिया था। इस रोक के प्रमुख कारण जातीयता के उग्र भाव और अर्थ-शोषण ही थे। और तो और, उन भारतीयो का प्रवेश भी रोक दिया जो केवल भ्रमण के ही लिए—बसने के लिए नही—जाना चाहते थे। प्रवासियो की स्थिति मे सुधार के लिए प्राय ७५ वर्षों से लगातार आंदोलन होरहा है। इसीके फलस्वरूप सन् १९०४ मे आस्ट्रेलिया ने भारतीयो के प्रवेश पर से यह रोक हटाली और भारतीय भ्रमणकारियो के लिए वहाँ जाने का द्वार खुल गया।

न्यूजीलैण्ड मे भी, आस्ट्रेलिया के साथ-साथ, भारतीयो के प्रवेश पर रोक लगा दी गयी थी। सन् १९१९ मे भारतीयो के लिए न्यूजीलैंड मे प्रवास-सम्बन्धी कड़े-से-कड़े नियम बनाये गये। सन् १९२० मे प्रवास-प्रतिबंध-कानून के द्वारा समस्त प्रवासियो पर कड़े नियम लगाये गये। जो न्यूजीलैंड जाना चाहता उसे पहले से आज्ञा प्राप्त करना जरूरी होता था।

कनाडा मे भी प्रवासी भारतीयो को बड़े-बड़े अत्याचार और अपमान सहने पड़े है। भारतीयो के सिवा चीनी और जापानी लोगो पर भी प्रवास-सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाये गये। सन् १९१० मे कनाडा की सरकार ने प्रवास-सम्बन्धी जो नियम बनाये वे जापानियो की अपेक्षा भारतीयो के लिए

अधिक अपमानजनक और प्रतिबन्धकारी थे। सन् १९१४ में सरदार गुरुदत्तसिंह के नेतृत्व में भारतीयों (विशेषत सिक्खों) का एक दल जापानी जहाज कोमागाता मारू में कनाडा के लिए गया। परन्तु वह जहाज बन्दर पर लगातार तीन मास तक लगा रहा। कनाडा की सरकार ने उसके यात्रियों को कनाडा में प्रवेश करने से रोक दिया। अन्त में इस जहाज को वापस लौटना पड़ा। कनाडा की फेडरल सरकार के आग्रह पर भी ब्रिटिश कोलम्बिया के प्रवासी भारतीयों को अबतक मताधिकार से वंचित रखा गया है।

दक्षिणी रोडेशिया में भारतीयों के साथ बहुत बुरा बर्ताव किया जाता है। परन्तु वहाँ प्रवासियों की संख्या बहुत कम है।

फिजी और मॉरिशस में सन् १९३७ में भारतीय प्रवासियों की जनसंख्या क्रमश ७६,७२२ और २५,७९६ थी। ये अंग्रेजों की क्राउन कॉलोनी हैं। इनको आबाद करने में भारतीयों ने अपना बलिदान दिया और पुरस्कार में उन्हें अपमान और दमन मिला। फिजी की व्यवस्थापिका परिषद् में अब पाँच प्रतिनिधि लिये जाते हैं। तीन भारतीय प्रतिनिधि निर्वाचित और दो मनोनीत होते हैं। मारिशस की जनसंख्या में तीन हिस्से भारतीयों की आबादी है। परन्तु इसपर भी राजनीतिक दृष्टि से उनका कोई मूल्य नहीं है। मेडागास्कर फ्रान्स के अधीन है। वहाँ प्रवासी भारतीयों के साथ अपमानजनक व्यवहार तो नहीं होता, फिर भी उनकी वह स्थिति नहीं है जो होनी चाहिए। जो उपनिवेश डच तथा पुर्तगाली लोगों के अधीन हैं, उनमें भी भारतीयों की स्थिति सन्तोषप्रद नहीं है। जंजीबार नाममात्र के लिए सुल्तान के हाथों में है, उसके शासन-प्रबन्ध में अंग्रेजों का प्रभाव है। हाल में जंजीबार में लौंग व्यापार के सम्बन्ध में जो नया कानून बना था, उससे भारतीयों में बड़ा असन्तोष पैदा होगया। भारतीय राष्ट्रीय महासभा—कांग्रेस—ने भारत में इसी कारण लौंग का बहिष्कार किया था।

प्रवासी भारतीयों की समस्या सचमुच बड़ी विकट है। भारत से जिन भारतीयों ने अपनी पूंजी और श्रम से ब्रिटिश उपनिवेशों को उन्

योग्य बनाया कि वे मनुष्यो के रहने योग्य बन सके और उन्हे व्यापारिक दृष्टि से उन्नत बनाने मे पूरा योग दिया, आज उन्ही भारतीयो को श्वेताग यह कहते है कि उन्हे उपनिवेशो मे प्रवास का कोई अधिकार नही है। प्रवासियो की इस दयापूर्ण दशा का एक मात्र कारण है भारत की परतन्त्रता। परन्तु स्वाधीनता-प्राप्ति के साथ प्रवासियो के वे सकट दूर हो जायेगे।

साम्राज्य-विरोधी सघ

ससार भर मे साम्राज्यवाद का आतक इतना बढ गया है कि उसका विरोध करने के लिए सन् १९२७ ई० मे ब्रसेल्स मे अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्य-विरोधी सघ (League Against Imperialism) की स्थापना की गयी। सस्था का मूल उद्देश्य साम्राज्यवाद की सभी विरोधी शक्तियो को एक सूत्र मे बाँधना है, क्योकि साम्राज्यवादियो से सघर्ष के लिए यह आवश्यक है कि उसकी विरोधी शक्ति को सगठित किया जाये। इस सस्था का कार्य उपनिवेशो मे साम्राज्यवाद के विरुद्ध होरहे युद्ध को चलाये रखना है। भारतीय राष्ट्रीय महासभा (काग्रेस) और भारतीय व्यवसायी-सघ का इस सस्था से सबन्ध है।

ब्रसेल्स (जर्मनी) मे जो स्थायी सघ स्थापित किया गया उसका सभापतित्व इग्लैंड के प्रसिद्ध मजदूर नेता जार्ज लेन्सबरी ने ग्रहण किया था। प० जवाहरलाल नेहरू ब्रसेल्स की साम्राज्य-विरोधी परिषद् मे सम्मिलित हुए थे। उसके सम्बन्ध मे उन्होने 'मेरी कहानी' मे लिखा है —

"काफी प्रतिष्ठित व्यक्ति साम्राज्य-विरोधी लीग के संरक्षक है। उनमें एक तो मि० आइन्स्टीन हैं और दूसरी श्रीमती सनयातसेन और मेरा खयाल है रोम्याँ रोलाँ भी। कई महीने बाद आइन्स्टीन ने इस्तीफा दे दिया, क्योकि फिलिस्तीन में अरबो और यहूदियो के जो झगडे हो रहे थे उनमें लीग ने अरबो का पक्ष लिया था और यह बात उन्हें नापसन्द थी।"

१० जवाहरलाल नेहरु का इस सघ से पहले सम्पर्क था, परन्तु सन् १९३१ से काग्रेस और सरकार के बीच दिल्ली में जो समझौता हुआ और उसमें नेहरुजी ने जो भाग लिया उसपर साम्राज्यवाद-विरोधी सघ उनसे नाराज होगया और उसने उन्हे अपनी सदस्यता से अलग करने के लिए प्रस्ताव भी पास किया ।

पी० ई० एन० और भारत

पी० ई० एन०[1] क्लब कवियो, पत्रकारो, नाटककारो, सपादको और उपन्यास-लेखको की एक अन्तर्राष्ट्रीय-सस्था है। इग्लैड की प्रसिद्ध विदुषी लेखिका श्रीमती केथरिन ए० डासन स्कॉट ने लन्दन मे अक्टूबर १९२१ मे इसकी स्थापना की थी । पर इस समय इस सस्था की समस्त ससार मे ४० देशो मे शाखाएँ है । सुविख्यात अग्रेजी उपन्यास-लेखक जॉन गैल्स-वर्दी प्रारम्भ से अपनी मृत्यु तक इस सस्था के प्रधान रहे । उसके बाद यह सम्मान सुप्रसिद्ध अग्रेज इतिहासवेत्ता श्री एच० जी० वैल्स को दिया गया। इस समय वही इस सस्था के प्रधान है । पी० ई० एन० का उद्देश प्रत्येक स्थान के लेखको मे पारस्परिक सद्भावना और सहानुभूति पैदा करना है। पी०ई०एन० वास्तविक अर्थ मे एक विश्व-सस्था है । यह उन लेखकों के विरुद्ध नहीं है जो उसके सदस्य नही है । उसमें जाति, रग, राजनीति तथा राष्ट्रीयता के आधार पर कोई भेद-भाव नही है । ससार के प्रमुख लेखक चाहे वे पुरुष हो या स्त्री, श्वेताग हो या पीताग, जवान हो या वृद्ध गरीव हो या धनी, अथवा चाहे जिस धर्म, जाति या राष्ट्र के हों, इस सस्था के सदस्य हो सकते है—

भारत मे भी पी० ई० एन० की शाखा सन् १९३३ ई० मे बम्बई मे स्थापित हो चुकी है । जब पी० ई० एन० की तेरहवीं अन्तर्राष्ट्रीय काग्रेस मई १९३५ मे बार्सीलोना नगर मे हुई थी तो उसमे भारत की ओर से

---

[1] P=Poets Playwrights (कवि, नाटककार), E=Editors · Essayist (सम्पादक निबधकार), N=Novelists (उपन्यासकार)

ीमती सोफिया वाडिया प्रतिनिधि की हैसियत से सम्मिलित हुई थी। इस सस्था के द्वारा समस्त प्रसिद्ध भारतीय लेखको को परस्पर एक दूसरे को जानने और समझने का ही सुयोग नही मिलता, प्रत्युत उनका अन्तर्प्रान्तीय साहित्यिक सम्पर्क भी होता है। यह सस्था दो दिशाओ मे भारत मे साहित्य की प्रगति के लिए कार्य करती है —

(१) अपने अन्तर्राष्ट्रीय सगठन द्वारा सदस्य लेखको की अंग्रेजी रचनाओ को ससार भर मे प्रसिद्ध करना।

(२) अपने सदस्यो की भारतीय भाषाओ मे लिखी गयी रचनाओ को समस्त भारत मे प्रसिद्ध करना और भारत की विविध-भाषा-सबन्धी सस्कृतियो के सबन्ध मे ज्ञान का प्रसार करना। इसी उद्देश से एक अखिल भारतवर्षीय भाषा-समिति भी स्थापित की गयी है जिसमे अनेक भारतीय भाषाओ के प्रमुख प्रतिनिधि है।

इस शाखा की ओर से 'इण्डियन पी० ई० एन०' नामक एक मासिक पत्रिका भी निकल रही है, जिसमे सस्था की गतिविधि और लेख प्रकाशित होते रहते है।

भारतीय शाखा की प्रबध-समिति इस प्रकार है —

(१) डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर	प्रधान
(२) श्री० रामानन्द चट्टोपाध्याय	उपप्रधान
(३) श्रीमती सरोजिनी नायडू	उपप्रधान
(४) सर स० राधाकृष्णन्	उपप्रधान
(५) श्रीमती सोफिया वाडिया	सगठनकर्त्री

उसके लिए बडे-से-बडा बलिदान करने मे तत्पर रहता है।

वे सम्बन्ध, जिनके कारण एक जन-समूह राष्ट्र कहलाता है, कई प्रकार के है--भौगोलिक, सास्कृतिक, ऐतिहासिक, आर्थिक, धार्मिक और जातीय। इनमे सबसे प्रमुख भौगोलिक सम्बन्ध है। एक देश मे रहने के कारण व्यक्तियो मे देशभक्ति की भावना पैदा होजाती है और वे उसे अपनी मातृभूमि समझते है। एक ही सस्कृति एव ऐतिहासिक परम्परा भी व्यक्ति-समूह के पारस्परिक बन्धनो को मजबूत बनाती है। एक धर्म के अनुयायियो मे भी एक प्रकार का बन्धुत्व स्थापित होजाता है। आर्थिक हितो की समानता भी ऐसे सम्बन्धो को पैदा करने मे सहायक है। अन्त मे जातीय एकता—रक्त-सम्बन्ध—भी राष्ट्र का एक बन्धन है। परन्तु उसपर अधिक जोर देने आवश्यकता नही है। सच तो यह है कि आज ससार की कोई भी जाति अपने रक्त की पवित्रता का दावा नहीं कर सकती। परन्तु तो भी यूरोपियन जातियाँ अपनी जातीय भावना के कारण ससार मे अन्याय और अनाचार कर रही है। अमरीका जैसे सभ्य और सुसस्कृत देश मे हब्शियो पर भीषण अत्याचार किये जा रहे है। उनका 'लिंचिग' किया जाता है। अफ्रीका में भी काली जातियों के साथ गोरो के बर्बरतापूर्ण अत्याचार आज भी होरहे है। जर्मनी मे जातीय पवित्रता की भावना ने ऐसा उग्र और भयकर रूप धारण किया कि हिटलर ने अपने देश से यहूदियो को निकाल दिया। हिटलर की यह धारणा है कि केवल जर्मन ही पवित्र आर्य है। यहूदियो के ससर्ग मे रहने से जर्मनो का आर्यत्व नष्ट होजायेगा, इसलिए उन्हे जर्मनी मे न रहने दिया जाये। विदेशो मे गोरी जातियाँ प्रवासी भारतीयो को 'कुली कहकर उनके साथ कैसा अन्याय करती है, यह तो सबको भलीभाँति विदित ही है।

प्रोफेसर रामजे म्यूर ने सिद्ध किया है कि जातीयता की भावना (अर्थात् यह विश्वास कि हमारी जाति ही ससार मे सर्वश्रेष्ठ है और दूसरी जातियाँ अपवित्र या वर्ण-सकर है) ससार की जातियो मे घृणा, रग-द्वेष, प्रतियोगिता और अशान्ति पैदा करनेवाली है।

संसार में राष्ट्रीयता ने इतनी अशांति पैदा नहीं की जितनी कि जातीयता की भावना ने की है ।[1]

राष्ट्र के लिए भाषा की एकता भी जरूरी है । जबतक जनसमूह में भाव-प्रकाशन सामान्य भाषा द्वारा न होगा, तबतक उसमें विचार की एकता भी पैदा नहीं होसकती और जब विचार-एकता पैदा नहीं होगी, तो उसमें सांस्कृतिक एकता पैदा नहीं हो सकती । भारत में राष्ट्रीय नेताओं ने इस आवश्यकता का अनुभव किया है और इसी लिए सामान्य-भाषा—राष्ट्रभाषा—के निर्माण के लिए प्रयत्न होरहा है ।

राष्ट्र की ऐतिहासिक परम्परा के संबंध में प्रोफेसर रामजे म्यूर का मत है —

'वीरों के महान् कृत्य और वीरता के साथ किया गया बलिदान ऐसा श्रेष्ठ और पौष्टिक भोजन है जिससे राष्ट्र की आत्मा को शक्ति और स्फूर्ति मिलती है । इसीसे अमर और पवित्र परम्परा और इतिहास का निर्माण होता है, और फलतः राष्ट्र-निर्माण का मार्ग भी साफ होता है । इनके मुकाबिले धन-सम्पदा, जन और भूमि हेय प्रतीत होती है । जिस राष्ट्र के पास ऐसी स्मृतियों का अक्षय भण्डार है, उसके देश के आस-पास रहनेवाले लोग, जिनका उससे न कोई जाति-संबंध है और न धर्म तथा भाव का संबंध उसमें मिल जाने में आत्मगौरव अनुभव करेंगे।'

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता एक भावना है । जिस देश की जनता में सामान्य भावना हो, वहां राष्ट्रीयता का भाव उत्पन्न रहता है ।

राष्ट्रीयता के उदय के कारण

आज हम राष्ट्रीयता का उदय उन सभी देशों में देख रहे हैं जो विदेशी-शासन के नियंत्रण में हैं और जो देश स्वाधीन हैं उनमें तो राष्ट्रीयता का विकास ऐसी भयंकर दिशा में हुआ है कि आज विद्वानों

---

१ रामजे म्यूर 'नेशनलिज्म एण्ड इण्टरनेशनलिज्म' (१९१९) पृ० ३८-३९

का यह मत है कि राष्ट्रीयता ही ससार मे अशान्ति का मूल है। स्वाधीन और पराधीन दोनो पकार के देशो मे राष्टीयता के विकास के भिन्न-भिन्न कारण हैं।

स्वाधीन देशो मे विज्ञान, आविष्कार और औद्योगीकरण ने उग्र राष्ट्रीयता को जन्म दिया। पाश्चात्य देशो मे औद्योगिक क्रान्ति ने जनता के सामाजिक जीवन मे आश्चर्यजनक क्रान्ति पैदा करदी। पहले लोग छोटे-छोटे साधारण कस्बो और ग्रामो मे रहते थे। अधिकाश लोग मेहनत-मजदूरी करके अपना पेट पालते थे। कृषि ही उनका मुख्य व्यवसाय था। यातायात तथा पत्र-व्यवहार के साधन वैज्ञानिक ढग के न होने से परस्पर मेल-मिलाप भी कम होता था। साक्षरता एव शिक्षा का वडा अभाव था। इन कारणो से उनमे राष्ट्र-भावना का विकास नही हो सका। यदि आप ३० वर्ष पूर्व की रूस, चीन, ब्रह्मा तथा भारत की स्थिति का अध्ययन करे तो आपको यह स्पष्ट होजायेगा कि भारत मे भी पहले राष्ट्र-भावना नही थी। परन्तु जब उद्योग-धन्धो का विकास हुआ, नवीन आविष्कारो के कारण नयी-नयी मशीनें, यत्र तथा औजार तैयार किये गये, तब उद्योगवाद का जन्म हुआ। उद्योगवाद ने पूंजीवाद को विकसित किया। पूंजीवाद ने अपनी रक्षा और वृद्धि के लिए देश मे राष्ट्रीय भावना का प्रचार किया और उसका मनमाना उपयोग किया।

आज सभ्य तथा स्वाधीन देशो मे शिक्षा तथा समाचारपत्रो द्वारा राष्ट्रीयता का प्रचार किया जा रहा है। स्कूलो और कालेजो मे प्रत्येक राष्ट्र ऐसी शिक्षा की योजना काम मे ला रहा है जिससे अपने राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठता की छाप छात्रो के हृदय पर पडे। पूंजीपतियो द्वारा सचालित समाचारपत्र भी राष्ट्रीयता का प्रचार कर रहे हैं।[१]

जो देश पराधीन हैं, उनमे राष्ट्रीयता के उदय के कारण इनसे भिन्न हैं। पराधीन राष्टो मे साम्राज्यवादी राष्टो के द्वारा जो आर्थिक

---

१ डब्ल्यू बी करी · 'दि केस फॉर फेडरल यूनियन' (१९४०) पृष्ठ ५३।

शोषण किया जाता है तथा उनके आर्थिक जीवन को नष्ट कर दि
जाता है, उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अर्थात् अपने आर्थिक सर्वना
से रक्षा पाने के लिए राष्ट्रीय भावना पैदा होती है। समस्त दी
और पीडित जनता मे वैदेशिक नियन्त्रण से मुक्ति पाने के लिए एक
का भाव पैदा होता है और वह इस आधार पर आन्दोलन उठाती है
विदेशी बन्धन से मुक्त होजाने पर समस्त जनता का कल्याण होग
बस इस प्रकार राष्ट्रीय भावना उत्पन्न होजाती है।

राष्ट्रीयता की भावनाएँ

आज के युग मे हम राष्ट्रीयता की तीन भावनाएँ मुख्य रूप मे प
है। जनतंत्रीय देशो मे पूँजीवादी राष्ट्रीयता अपनी चरम-सीमा
पहुँच चुकी है। अधिनायकतन्त्रवाले राज्यो मे फैसिस्ट राष्ट्रीयता हि
और युद्ध का प्रचार ही नही कर रही है बल्कि यूरोप की सभ्यता अ
स्वाधीनता के नाश के लिए युद्ध-क्षेत्र मे संलग्न है। एक तीसरी राष्ट्
यता की भावना का उदय स्वाधीनता के साधक भारत मे हो रहा
जिसके प्रवर्त्तक संसार के अद्वितीय शान्तिवादी महात्मा गांधी औ
पंडित जवाहरलाल नेहरू हैं। इसे हम मानववादी राष्ट्रीयता का नय
नाम देंगे।

(१) पूंजीवादी राष्ट्रीयता

फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाद ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम तथा अन्य देशों
में प्रजातन्त्र का उदय हुआ। स्वाधीनता, समता तथा बन्धुता के भावों
का जनता मे बड़ा प्रचार हुआ। सबसे पहली बार जनता ने एकतन्त्र
शासन से मुक्ति पायी और प्रजा की स्वाधीनता की स्थापना की। इस
क्रान्ति के बाद प्रजातन्त्र के नाम पर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का घोर प्रचार
किया गया। इसका परिणाम यह निकला कि प्रसिद्ध अंग्रेज राजनीतिज्ञ
मिल, स्पेन्सर, सिज्विक, ग्रीन और बोसान्क्वेट ने मुक्तकण्ठ से व्यक्ति-
वाद का समर्थन किया।

व्यक्तिवाद का महत्त्व यह है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति की

उन्नति उसकी आवश्यकता और योग्यता के अनुसार होनी चाहिए। इसलिए भिन्न-भिन्न प्रकार के सब व्यक्तियो के लिए एक-सा कानून बनाना ठीक न होगा। सरकार को व्यक्तियो के कार्यो मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए। उन्हे स्वतन्त्र रीति से अपनी उन्नति और विकास का अवसर देना चाहिए। इस प्रकार व्यक्तिवाद सरकार के कार्यो को बहुत ही मर्यादित मानता है। गीन ने अपने ग्रन्थ मे लिखा है कि सरकार दमन या सुशासन के द्वारा समाज के आत्म-निर्णय के अधिकार मे कोई बाधा न डाले। सब लोगो को अपने-अपने रास्ते से चलने देना उचित है।

व्यक्तिवाद का विकास उन्नीसवी सदी मे यहाँतक हुआ कि व्यक्तियो को कानून की दृष्टि मे समान समझा जाने लगा। प्रत्येक (बालिग) व्यक्ति को समान मताधिकार प्राप्त हो गया। इस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र मे समता का सिद्धान्त स्थिर किया गया।

राजनीतिक समता के कारण नागरिको को अपने देश के शासन मे भाग लेने का अधिकार मिला। प्रतिनिधि-सस्थाओ का विकास हुआ। प्रतिनिधि-सस्थाओ की यह विशेषता है कि राज्य का शासन जनता-द्वारा चुने गये प्रतिनिधियो के हाथ मे होता है। अत इस प्रणाली के अन्तर्गत निर्वाचको का अधिक महत्त्व है। जिस दल का पार्लमेण्ट मे बहुमत होता है, उसी दल का नेता मन्त्रिमण्डल बनाता है और इस तरह वह सारे देश का शासन करता है। परन्तु पूंजीवाद के प्रभाव के कारण निर्वाचक स्वतन्त्र रूप से अपने मताधिकार का प्रयोग नही करते। चुनाव पूंजीपतियो के हाथ मे होता है। वे जिसे ठीक समझते है, उसीको चुनाव मे खडा करते है और उसे कामयाब बनाने के लिए निर्वाचको को तरह-तरह के प्रलोभन देते है। इस प्रकार निर्वाचको और प्रतिनिधियो का पतन किया जाता है। देश के बडे-बडे प्रभावशाली पत्रो के स्वामी भी पूंजीपति ही होते है, जिससे समाचारपत्र भी ऐसे ही उम्मीदवारो का समर्थन करते है। अत शोषित समाज के लिए राजनीतिक समता व्यर्थ सिद्ध होती है। वह स्वतन्त्रता से अपने मताधिकार का प्रयोग नही कर सकता।

बेनितो मुसोलिनी ने उग्र राष्ट्रीयता का प्रचार आरम्भ से ही किया है। मुसोलिनी ने अपने एक लेख मे लिखा है —

"· · फासिज्म जितना अधिक सामयिक राजनीतिक दृष्टिकोण को अलग रखकर, मानवता के भविष्य और उसके विकास पर विचार एव चिन्तन करता है, उतना अधिक न तो वह स्थायी शान्ति की उपयोगिता में विश्वास करता है और न ऐसा सम्भव ही है। इस प्रकार वह शान्तिवाद के उस सिद्धान्त को अस्वीकार करता है जिसकी उत्पत्ति सघर्ष के परित्याग और आत्मत्याग के सामने कायरता से हुई है। · ·

"सिर्फ युद्ध ही मानवीय शक्तियो को सबसे अधिक उत्तेजना प्रदान करता है और मानवो के हृदय पर श्रेष्ठता की छाप लगाता है।· अत जो सिद्धान्त शान्ति की इस हानिप्रद कल्पना पर स्थिर है, वह फासिज्म का विरोधी है।

"वह (फासिज्म) मानव-समाज को आदिकाल के कबीले के जीवन से ऊँचा उठाकर मानव-शक्ति की सर्वोच्च अभिव्यक्ति की ओर ले जाता है--जिसे साम्राज्य कहते है।

"फासिज्म के लिए साम्राज्य का विकास—अर्थात् राष्ट्र का विस्तार—शक्ति का आवश्यक प्रदर्शन है और इसका विपरीत अध पतन का लक्षण है। जो जातियां उठ रही है, वे सदैव साम्राज्यवादी ही होती है। इसका परित्याग ही पतन और मृत्यु का लक्षण है।"[1]

हिटलर की ओर से भी एक दशाब्दी से जर्मनी मे हिंसा, युद्ध और दूसरे राष्ट्रो के प्रति घृणा तथा विद्वेष का प्रचार हो रहा है। उन्होने भी अपने आत्मचरित 'मेरा सघर्ष' मे लिखा है —

"यथार्थ में शान्तिवादी-मानववादी भावना पूर्णत अच्छी है, परन्तु इस शर्त पर कि सबसे पहले सर्वोच्च मानव-वर्ग ने संसार को इस सीमा तक जीत लिया हो कि वह ससार का एकमात्र स्वामी बन जाये। ·

---

१. सीन्योर मुसोलिनी 'द पोलिटिकल एण्ड सोशल डॉक्ट्रीन ऑव फैसिज्म इन इन्साइक्लोपीडिया इटैलियाना' (१९३२)

इसलिए हमें पहले युद्ध करना चाहिए—शान्तिवाद शायद भविष्य में देखा जायगा।"

हिटलर ने जर्मन जनता में सामरिक भावना पैदा करने के लिए ही लिखा है —

"जर्मनी की सत्ता को पुनः प्राप्त करने के लिए तुम्हें यह न पूछना चाहिए कि 'हम किस तरह शस्त्रास्त्र बनावें ?' बल्कि यह भावना पैदा करनी चाहिए जिससे मनुष्यों में शस्त्र-धारण की क्षमता प्राप्त हो जाये। यदि ऐसी भावना लोगों में पैदा होजाये, तो उनकी इच्छा-शक्ति सहस्रों ढंग से प्रकट होसकेगी, जो उनमें से किसी को भी शस्त्रीकरण की ओर ले जायेगी। यों एक कायर व्यक्ति को १० पिस्तौल दे दिये जायें, तो भी जब उसपर आक्रमण होगा तो वह एक गोली भी न छोड़ सकेगा।"

"ऐसे राष्ट्रीय समाजवादी आन्दोलन को धिक्कार है, जो केवल विरोध पर निर्भर रहता है और युद्ध की तैयारी नहीं करता।"

उपर्युक्त अवतरणों से यह स्पष्ट है कि 'राष्ट्रीय समाजवाद' का आधार सैनिकवाद और हिंसा है। इस फासिस्ट राष्ट्रीयता का जर्मनी में समाचारपत्रों और स्कूलों द्वारा भी प्रचार किया जाता है। जर्मनी में हेर हिटलर ने उग्र राष्ट्रीयता के प्रचार के लिए हर उपाय से काम लिया है। साहित्य, कला, नाट्य, संगीत, सिनेमा, रेडियो आदि सबका उपयोग युद्ध और हिंसा के भाव को जगाने के लिए किया गया है।

जर्मनी में प्रचलित गीतों में भी फ्रांस, रूस और यहूदियों के प्रति जर्मनों के हृदय में पाशविक, घृणापूर्ण और प्रतिहिंसा के भावों का [illegible] को जगाने की प्रबल चेष्टा है।

यहूदियों पर जो बर्बर और [illegible] जर्मनों द्वारा किये गये हैं उनके [illegible] ने लिखा है —

"जर्मनों ने यहूदियों पर जो अत्याचार किये हैं, उनकी कहानी दुनिया में बेजोड़ है। प्राचीन काल के अत्याचारी इनसे [illegible] नहीं हो

गये थे जितने कि हिटलर पागल होगये प्रतीत होते हैं। द
धार्मिक जोश के साथ कर रहे है, क्योकि वह उग्र राष्ट्रीयता के
धर्म का विकास कर रहे हैं जिसके नाम पर किया गया द
अमानवीय कार्य मानवीय बन सकता है। और जिसके लिए इहलो
परलोक में पुरस्कार मिलेगा।"

यह है इस उग्र राष्ट्रीयता का स्वरूप। इसका अधिक उल्लेख
की आवश्यता नही कि फासिज्म ससार मे स्थायी शान्ति का
है। वह अन्तर्राष्ट्रीयता मे विश्वास नही करता। उनका आ
राष्ट्रवाद, सैनिकवाद और साम्राज्यवाद है। फासिज्म स्वदेश के
के लिए अन्य देशो पर आधिपत्य को मानवता की शक्ति का
प्रदर्शन मानता है। वह युद्ध को प्रोत्साहन देता है, क्योकि स
विस्तार युद्ध के बिना सम्भव नहीं है। इसमे तनिक भी सन्देह
वर्तमान् युद्ध यूरोप मे बढती हुई पूंजीवादी और फासिस्ट राष्ट्री
ही भयकर परिणाम है।

(२) मानववादी राष्ट्रीयता

महात्मा गाधी की राष्ट्रीयता अहिसा और विश्व-प्रेम पर स्थिर
सबसे पहले मानव हैं और अन्त मे भी मानव हैं। उनके हृदय मे
मात्र के लिए प्रेम है, आदर है और सकुचित जातीयता को वह
दृष्टि से देखते हैं। अहिसा के अनन्य पुजारी होने के कारण व
भी राष्ट्र की जनता को किसी प्रकार की हानि पहुंचाने की भ
अपने सिद्धान्त के विरुद्ध मानते हैं। वह वास्तव मे एक आदर्श
वादी है।

गाधीजी स्वदेश के नागरिको मे एकता चाहते हैं—समन्व
हैं—सघर्ष नही। भारत मे उनका लक्ष्य यह है कि उसके
मतभेदो और विवादो को मिटाकर जनता को स्वराज्य के लिए
किया जाये, स्त्रियो को उठाकर पुरुषो के समान राजनीतिक,
सामाजिक धरातल पर बिठाया जाये, राष्ट्र को विभक्त करनेवाले

घृणा-द्वेषों का अन्त कर दिया जाये और हिन्दू धर्म को अस्पृश्यता के सामाजिक कलंक से मुक्त कर दिया जाये।[1] गांधीजी की यह धारणा है कि 'यदि मेरा पुनर्जन्म हो, तो मैं अछूत होकर जन्मना चाहूंगा, ताकि मैं उनके दुख-दर्द और अपमान में भाग ले सकूं और अपने-आपको तथा उनको उस दयनीय दशा से छुड़ाने का यत्न कर सकूं।"[2]

उनकी दृष्टि में हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि में कोई भेद नहीं है। वह यद्यपि हिन्दू-धर्म का पालन करते हैं और हिन्दू होने का उन्हें गर्व है, तथापि संसार के अन्य धर्मों के प्रति उनके हृदय में अगाध श्रद्धा है। इसका कारण यह है कि गांधीजी धर्मों की एकता में विश्वास करते हैं। उनका विचार है कि संसार के सब धर्मों में तात्त्विक एकता है—उनके मूल सिद्धान्त एक-से हैं। गांधीजी नागरिक समानता को भारत में स्थापित करना चाहते हैं। उन्होंने अपने एक लेख में लिखा है—

"जब युद्ध के बादल बिखर जायेंगे और भारत अपनी स्वाधीनता का अधिकार पा लेगा, तब मुझे शक नहीं कि कांग्रेसी लोग किसी मुसलमान, सिक्ख, ईसाई या पारसी को अपने प्रधान-मंत्री के तौर पर वैसे ही सहर्ष स्वीकार करेंगे जैसे कि एक हिन्दू को। इतना ही नहीं, वह कांग्रेसी न भी हो, तो भी वैसे ही और किसी प्रकार के धर्म या वर्ण के भेद बिना उसे अधिकार देंगे।"[3]

महात्मा गांधी प्रजातंत्र के प्रबल समर्थक हैं। वह राष्ट्र के विविध वर्गों, हितों और समुदायों में सहयोग और एकता चाहते हैं। वह किसी एक वर्ग का शासन नहीं चाहते। बहुमत के निर्णय में उनका विश्वास है। फासिज्म और नाज़ीवाद की उन्होंने सदैव निंदा की है और उन्हें सभ्यता एवं संस्कृति का शत्रु कहा है।

---

१ गांधी-अभिनन्दन-ग्रन्थ : सम्पादक—श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन (१९३९) पृ० १०

२-३ 'हरिजन-सेवक' (पूना) 'मेरा अन्याय' (गांधीजी) २८ सितम्बर १९४०

वह मानव-सेवा के सबसे महान् समर्थक हैं। सार्वजनिक जीवन मे शुद्धि तथा सदाचार पर वह जोर देते हैं। उनमे मातृभूमि के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग और बलिदान करने की शक्ति है। परन्तु उनकी देशभक्ति उग्र एव दूसरे राष्ट्र के लिए विघातिनी नही है। वह अपनी जन्म-भूमि के प्रति अनुराग रखते हुए भी मानवता-प्रेमी हैं, विश्व-शान्ति के समर्थक हैं।[१]

गाधीजी का विश्वास है कि भारत की प्राचीन सस्कृति से ससार के विकास मे सहायता मिल सकती है। नीचे गिरा हुआ भारत मानव-जाति को आशा का सन्देश नही दे सकता। जाग्रत स्वतन्त्र भारत ही पीडित ससार की सहायता कर सकता है। गाधीजी कहते है कि यदि अग्रेज लोग न्याय, शान्ति और व्यवस्था की अपनी भावना मे सच्चे हो, तो आक्रान्ता शक्तियो को दबा देना और वर्तमान परिस्थिति को ही कायम रखना उचित नही है। हमारे माने हुए आदर्शों के विपरीत जो परिस्थिति हो उसे सुधारने से इन्कार करना भी हिसा है। न्याय और स्वतन्त्रता के हमारे प्रेम मे इस निष्क्रिय हिसा से बचने का बल होना चाहिए। यदि साम्राज्यो का निर्माण मनुष्य की तृष्णा, क्रूरता और घृणा ने किया है, तो ससार को न्याय तथा स्वतन्त्रता की शक्तियो का साथ देने के लिए कहने से पहले हमे उनको बदलना होगा। हिसा या तो सक्रिय होगी या निष्क्रिय। आक्रान्ता शक्तियाँ इस समय सक्रिय हिसा कर रही है, वे साम्राज्यवादी शक्तियाँ भी हिसा की उतनी ही अपराधिनी और स्वातन्त्र्य

---

१ My patriotism is both exclusive and inclusive It is exclusive in the sense that in all humility I confine my attention to the land of my birth, but it is inclusive in the sense that my service is not of a competitive or antagonistic nature.

—'महात्मा गाधीज स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स' (चतुर्थ सस्करण). जी० ए० नटेशन कं०, मद्रास

तथा प्रजातन्त्र की विरोधिनी है, जो भूत-काल की हिंसा द्वारा प्रा
अन्यायपूर्ण कामों का उपयोग करने में आज भी सलग्न है। जबतक ह
इस मामले में ईमानदारी से काम न लेंगे, तबतक हम सबसे अच
विश्व-व्यवस्था स्थापित नही कर सकेंगे, और ससार म युद्ध तथा यु
का भय जारी रहकर, अनिश्चय की व्यवस्था स्थायी होजायेगी। भा
को स्वतत्र कर देना ब्रिटिश ईमानदारी की अग्नि-परीक्षा है।[1]

मार्च १९३९ के विश्व-सकटकाल मे 'न्यूयार्क टाइम्स' के एक सवा
दाता ने गाधीजी से ससार के लिए सन्देश माँगा, तब उन्होने कहा
सब प्रजातत्रो को एकदम नि शस्त्र होजाना चाहिए। उन्होने बतला
कि इसी एकमात्र हल से युद्धो का अन्त किया जा सकता है। उन्हो
कहा—"मुझे यहाँ बैठे-बैठे ही निश्चय है कि इससे हिटलर की आँखें खु
जायेंगी और वह आप नि शस्त्र होजायेंगे।"

सवाददाता ने पूछा—क्या यह चमत्कार नहीं है?

गाधीजी ने जवाब दिया—शायद। परन्तु इससे ससार की उ
रक्तपात से रक्षा होजायेगी जो अब सामने दीख रहा है। 'कठोरत
धातु काफी आंच से नरम होजाती है, इसी प्रकार कठोरतम हृदय भ
अहिंसा की पर्याप्त आंच लगने से पिघल जाना चाहिए और अहिंस
कितनी आँच पैदा कर सकती है उसकी कोई सीमा नहीं ''अप
आधी शताब्दी के अनुभव में मेरे सामने एक भी ऐसी परिस्थिति नह
आयी जब मुझे यह कहना पडा हो कि मै असहाय हूँ और मेरी अहिंस
निरुपाय होगयी।[2]

गाधीजी का अहिसा की शक्ति मे कितना गहरा विश्वास है, यह
उनके उपर्युक्त कथन से साफ प्रकट होजाता है। यह सन्देश उन्होंने
वर्त्तमान यूरोपीय युद्ध के प्रारम्भ होने से पहले दिया था जबकि ससा

---

१ सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन . 'गाधी-अभिनन्दन ग्रथ' (१९४१
पृष्ठ १५

२ वही पृ० २४

के राष्ट्रो का शस्त्रीकरण बेहद बढ़ चुका था और युद्ध के बादल आकाश मे मँडरा रहे थे।

वर्तमान यूरोपीय युद्ध शुरू होने पर भारत मे उसको स्वाधीन राष्ट्र घोषित करने की राष्ट्रीय मॉग काग्रेस की ओर से ब्रिटिश सरकार के सामने रखी गयी। आज दो वर्ष से अधिक समय बीत गया, परन्तु ब्रिटिश सरकार ने राष्ट्रीय मॉग को स्वीकार नही किया। एक ओर तो ब्रिटिश सरकार की यह वृत्ति है, दूसरी ओर महात्मा गाधी भारत की स्वाधीनता के लिए युद्ध-काल मे कोई ऐसा उग्र कार्य करना अहिंसा के सिद्धान्त के विरुद्ध समझते है जिससे अग्रेज जाति सकट मे पड जाये। गाधीजी बराबर सत्याग्रह के प्रश्न को इसी दृष्टि से टालते रहे थे। उनका कहना है कि अग्रेजो की सकट-पूर्ण स्थिति से लाभ उठाकर हमे स्वाधीनता प्राप्त करना शोभा नही देता। ऐसा करना भारतीय आर्य-मर्यादा के विरुद्ध है।

गाधीजी को वर्तमान युद्ध से इतनी दारुण व्यथा पहुँची कि उन्होने घोर युद्ध-काल मे, जबकि ब्रिटेन के लिए जीवन-मरण का सवाल था—अग्रेजो से यह अपील की थी —

"राष्ट्रो के परस्पर के सबध और दूसरे मामलो का निर्णय करने के लिए युद्ध का मार्ग छोडकर अहिसा का मार्ग स्वीकार करें। मैं आपसे यह कहता हूँ कि इस युद्ध के समाप्त होने पर विजय चाहे जिस पक्ष की हो, प्रजातत्र का कहीं नामोनिशान भी नहीं मिलेगा। यह युद्ध मनुष्य जाति पर एक अभिशाप और चेतावनी के रूप में उतरा है। यह युद्ध शापरूप है, क्योकि आज तक कभी मानव मानवता को इस कदर नहीं भूला था, जितना कि वह इस युद्ध के असर के नीचे भूल रहा है।"[1]

यद्यपि महात्मा गाधी भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन के सचालक और काग्रेस के प्रधान नेता है और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कट्टर

---

१ हरेक अंग्रेज के प्रति (महात्मा गांधी) 'हरिजन-सेवक' १३ जुलाई १९४०

विरोधी है, तो भी वह एक आदर्श मानववादी है। आज भी गांधीजी ब्रिटेन के प्रति मैत्री का निर्वाह कर रहे हैं—"मैं दावा करता हूँ कि मैं ब्रिटेन का आजीवन और निस्वार्थ मित्र रहा हूँ। एक वक्त ऐसा था कि मैं आपके साम्राज्य पर भी आशिक था। मैं समझता था कि आपका राज्य भारत को फायदा पहुँचा रहा है। मगर जब मैंने देखा कि वस्तु-स्थिति तो दूसरी ही है, इस रास्ते से भारत की भलाई नहीं हो सकती, तब मैंने अहिंसक तरीके से साम्राज्यवाद का सामना करना शुरू किया और आज भी कर रहा हूँ। मेरे देश के भाग्य में आखिर कुछ भी लिखा हो, आप लोगों के प्रति मेरा प्रेम वैसा ही कायम है और रहेगा। मेरी अहिंसा सारे जगत के प्रति प्रेम मांगती है और आप उस जगत के कोई छोटे हिस्से नहीं हैं। आप लोगों के प्रति मेरे उस प्रेम ने ही मुझसे यह निवेदन लिखवाया है।"[२]

यह है गांधीजी की मानववादी राष्ट्रीयता। वह भारत के लिए स्वाधीनता चाहते हैं, परन्तु वह यह स्वाधीनता किसी दुर्बल राष्ट्र का शोषण करने या साम्राज्य की स्थापना करने के लिए नहीं चाहते।

यूरोप में युद्ध आरम्भ होने के बाद भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) की कार्य-समिति ने १४ सितम्बर १९३९ को भारतीय माँग के सम्बन्ध में अपना जो ऐतिहासिक वक्तव्य प्रकाशित किया, उसमें यह स्वीकार किया गया है कि संसार में युद्ध का कारण फासिज्म और साम्राज्यवाद है। ऐलान किया गया था कि ब्रिटेन यूरोप में स्वाधीनता व प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए लड़ रहा है, परन्तु क्या ये स्वाधीनता एवं प्रजातंत्र के सिद्धान्त यूरोप तक ही सीमित रहेंगे अथवा भारत में भी लागू किये जायेंगे? बस इसी प्रश्न के स्पष्टीकरण के लिए यह वक्तव्य प्रकाशित किया गया था। वक्तव्य में स्पष्ट शब्दों में कहा गया था—

"यदि इस युद्ध का उद्देश्य साम्राज्यवादी प्रदेशों, उपनिवेशों और

---

२ हरेक अंग्रेज के प्रति (महात्मा गांधी) 'हरिजन-सेवक' १३ जुलाई १९४०

स्थापित स्वार्थों की वस्तुस्थिति को क़ायम रखना है, तो भारत को ऐसे युद्ध से कोई सरोकार नहीं है। अगर सवाल प्रजातन्त्र और प्रजातन्त्र के आधार पर स्थित समाज की व्यवस्था का है, तो भारत की उसमें बड़ी दिलचस्पी है। "यदि ब्रिटेन प्रजातन्त्र की रक्षा और विस्तार के लिए युद्ध में लड़ रहा है, तो उसे अपने अधिकृत देशों में से साम्राज्यवाद का अन्त कर देना चाहिए और भारत में पूर्ण प्रजातन्त्र की स्थापना करनी चाहिए। अतएव भारत की जनता को बिना बाहरी हस्तक्षेप के अपनी निर्वाचित विधान-निर्मात्री परिषद् से अपना शासन-विधान बनाने का अधिकार मिलना चाहिए और स्वयं ही अपनी नीति का संचालन करना चाहिए।

"स्वतन्त्र प्रजातन्त्रवादी भारत दूसरे स्वतन्त्र राष्ट्रों के साथ आक्रमण के विरुद्ध पारस्परिक रक्षा तथा आर्थिक सहकारिता के लिए खुशी से सहयोग करेगा। हम एक सच्ची विश्व-व्यवस्था की स्थापना के लिए काम करेंगे जिसका आधार स्वाधीनता और प्रजातन्त्र होगा और संसार के ज्ञान विज्ञान और साधनों को मानवता के विकास और प्रगति में उपयोग किया जायेगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत अन्तर्राष्ट्रीय संघटन के विरुद्ध नहीं है। वह उसमें पूर्ण सहयोग देने के लिए प्रस्तुत है। परन्तु ऐसा करना उसी समय सफल हो सकता है जब पहले वह साम्राज्यवाद के बन्धन से मुक्ति पा ले।

भारतीय राष्ट्रीयता और पण्डित जवाहरलाल नेहरू

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भारतीय राष्ट्रीयता को अन्तर्राष्ट्रीय रंग में रँगकर वास्तव में राष्ट्र की एक महान् सेवा की है। आज भारत में नेहरूजी से बढ़कर कोई अन्तर्राष्ट्रीयता का समर्थक नहीं है। भारतीय राष्ट्रीयता को उग्र और संकुचित हो जाने से बचाने में नेहरूजी ने जो योग दिया है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

पंडित जवाहरलाल नेहरू की विचारधारा पूर्णतः समाजवादी है परन्तु उनपर महात्मा गांधी के सिद्धान्तों और विशेषरूप से उनके

अहिंसा-सिद्धान्त का गहरा प्रभाव पडा है। महात्माजी की अहिंसा में उनका पूरा विश्वास है। वह साम्राज्यवाद के कट्टर विरोधी है और फासिज्म को साम्राज्यवाद का ही भयकर रूप मानते है। उनकी यह धारणा है कि भारत का कल्याण समाजवादी व्यवस्था से होगा। वह शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीयता के सबसे बडे समर्थकों में से है। उन्होंने स्वयम् अपने सबन्ध में लिखा है—

"फासिज्म और साम्यवाद इन दोनो मे से मेरी सहानुभूति बिल्कुल साम्यवाद की ओर है। इस पुस्तक के इन्हीं पृष्ठो से यह मालूम हो जायेगा कि मैं साम्यवादी होने से बहुत दूर हूँ। मेरे सस्कार शायद एक हदतक अब भी उन्नीसवीं सदी के हैं और मानववाद की उदार परपरा का मुझपर इतना ज्यादा प्रभाव पडा है कि मैं उससे बिल्कुल बचकर निकल नहीं सकता।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीयता के सम्बन्ध मे उन्होंने लिखा है—

"मैं नहीं जानता कि हिन्दुस्तान जब राजनीतिक दृष्टि से आज़ाद हो जायेगा, तो किस तरह का होगा और वह क्या करेगा ? लेकिन मैं इतना जरूर जानता हूँ कि उसके लोग जो आज राष्ट्रीय स्वाधीनता के समर्थक हैं, व्यापक से व्यापक अन्तर्राष्ट्रीयता के भी समर्थक हैं। एक समाजवादी के लिए राष्ट्रीयता का कोई अर्थ नहीं है, लेकिन बहुतेरे काग्रेसी, जो समाजवादी नहीं है, लेकिन आगे बढे हुए हैं, वे सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता के पुजारी हैं। स्वाधीनता हम इसलिए नहीं चाहते कि हमें सबसे अलग होकर रहने की इच्छा है। इसके विपरीत हम तो इस बात के लिए बिल्कुल राजी हैं कि दूसरे देशो के साथ-साथ अपनी स्वाधीनता का भी कुछ अश छोड दें कि जिससे सच्ची अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था कायम हो सके। कोई भी साम्राज्य-प्रणाली, चाहे उसका नाम कितना ही बडा रख दिया जाये, ऐसी व्यवस्था की शत्रु है और ऐसी प्रणाली के द्वारा विश्वव्यापी सहयोग या शान्ति कभी स्थापित नहीं हो सकती।"[2]

---

१ 'मेरी कहानी' (१९४१) पण्डित जवाहरलाल नेहरू, पृ० ९३६
२ उपर्युक्त, पृष्ठ ६६२

प० जवाहरलाल नेहरू ससार मे सच्ची और स्थायी शान्ति चाहते है। उनकी यह ध्रुवधारणा है कि साम्राज्यवादी राष्ट्रो द्वारा शान्ति-व्यवस्था स्थापित नही की जा सकती। शान्ति-व्यवस्था के लिए सबसे पहले साम्राज्यवाद का अन्त कर देना जरूरी है। इसके बाद अन्तर्राष्ट्रीय सघटन के लिए प्रत्येक स्वाधीन राज्य को अपनी प्रभुता का कुछ अश छोडना पडेगा। जबतक ससार मे राष्ट्रीय राज्य कायम रहेगे तबतक कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय सघटन सफल नही हो सकता। नेहरूजी इसे भली भाँति अनुभव करते है।

भावी समाज की रूपरेखा खीचते हुए नेहरूजी लिखते है—

"हमारा अन्तिम ध्येय तो यह हो सकता है कि समान न्याय और समान सुविधापूर्ण एक वर्ग-रहित समाज हो, ऐसा समाज जिसका निर्माण मानव-समाज को भौतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से ऊँचा उठाने और उसमें सहयोग, निःस्वार्थ सेवाभाव, सत्य-निष्ठा, सद्भाव और प्रेम के आध्यात्मिक गुणों की वृद्धि करने के सुनिश्चित आधार पर हुआ हो, और अन्त में एक ऐसी संसार-व्यापी व्यवस्था हो जाये।"[1]

यह है भारतीय राष्ट्रीयता का समुज्ज्वल स्वरूप और उसके उन्नत मानवीय आदर्श जिनपर वास्तव मे सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता की आधार-शिला रखी जा सकती है।

---

१ 'मेरी कहानी' प० जवाहरलाल नेहरू, पृ० ८७७

: ८ :

नागरिक-स्वाधीनता

संसार के सब विद्वानों का यह मत है कि नागरिक-जीवन का विकास और उत्कर्ष केवल स्वतन्त्र वातावरण में ही हो सकता है । नागरिक-स्वाधीनता मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है । स्वाधीनता के बिना मानव न तो अपना आत्म-विकास कर सकता है, और न दूसरों की भलाई ही । राज्य सुसंगठित नागरिकों की एक संस्था ही है । उसका विकास नागरिकों के हित ही के लिए है । नागरिकों से रहित राज्य की कल्पना संभव नहीं । राज्य की उत्पत्ति इसी कारण हुई कि सब नागरिक निर्बाध रूप से स्वाधीनता का लाभ उठा सकें, क्योंकि अराजक दशा में मनुष्य न्याय का आश्रय न लेकर शक्ति के बल पर शासन करने लगते हैं ।

राज्य मानवों के हित के लिए है । अतः राज्य की ओर से प्रत्येक व्यक्ति अथवा नागरिक की सुख-सुविधा के लिए समान रूप से सम्यक् व्यवस्था होनी चाहिए । नागरिक-स्वाधीनता के उपभोग के लिए राज्य ने नागरिकों को विशिष्ट और निर्धारित अधिकारों की व्यवस्था की है । प्रोफेसर हैराल्ड लास्की के अनुसार **'नागरिक-स्वाधीनता ऐसे अधिकार हैं जो सामाजिक जीवन की उन अवस्थाओं की रक्षा के लिए जरूरी हैं जिनके अभाव में सामान्यतया कोई भी मानव अपना आत्म-विकास नहीं कर सकता ।'** सुप्रसिद्ध समाज-विज्ञानवेत्ता श्री हॉबहाउस के मतानुसार **'सच्चा अधिकार उसके अधिकारी के वास्तविक मंगल का एक तत्व है, स्थिति है जो सामंजस्य के सिद्धान्त के आधार पर सार्वजनिक मंगल का ही एक प्रमुख अंश है ।'**[1]

इटली के महापुरुष और वीर देशभक्त मेजिनी नागरिक-स्वाधीनता को कर्तव्य-पालन के लिए अत्यन्त आवश्यक मानते थे । उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—

---

१ हॉबहाउस एलीमेण्ट्स ऑव सोशल जस्टिस, पृ० ४१

"स्वाधीनता के बिना आप अपने किसी भी कर्त्तव्य को पूरा नही कर सकते। इसलिए आपको स्वाधीनता का अधिकार है और आपका यह कर्त्तव्य है कि जो कोई सत्ता स्वाधीनता का निषेध करती हो, उससे उसे किसी भी उपाय से प्राप्त कर लो।"

राज्य और विशेषत प्रजातन्त्र-राज्य का लक्ष्य है नागरिको के जीवन-विकास तथा उत्कर्ष के लिए समान सुयोग एव सुविधाएँ प्रदान करना। राज्य नागरिको के प्रति इस महान् कर्त्तव्य का पालन उसी दशा मे कर सकता है जब कि उसे नागरिको की स्थिति, अभाव एव आवश्यकताओ का पूर्ण और सच्चा ज्ञान हो। राज्य को नागरिक-जीवन की अवस्थाओ का पूर्ण और सच्चा ज्ञान तभी हो सकता है जब कि नागरिको को अपनी आकाक्षाओ के अभिव्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो। जबतक सब नागरिको को किसी प्रकार के भेद-भाव के बिना अपने मनोभाव एव विचार व्यक्त करने का अधिकार नही होता, तबतक राज्य उनकी आकाक्षाओ का सच्चा ज्ञान प्राप्त नही कर सकता। इस प्रकार सामाजिक जीवन मे स्वाधीनता का मूल्य सुस्पष्ट है। उदाहरणार्थ, किसी राज्य मे किसानो को बडा कष्ट है, उनसे बेगार ली जाती है, जमीदार अधिक लगान वसूल करते है, चाहे जब मनमाने ढग से उन्हे जमीन से बेदखल कर दिया जाता है और उनकी मवेशी को चारा नही मिलता क्योकि चरागाहो पर भी जमीदार खेती कराते है। अब यदि राज्य-शासन की ओर से कृषि-सुधार के लिए कोई योजना या कानून बनाया जाये और उसके सम्बन्ध मे किसानो को अपने विचार प्रकट करने का अधिकार न दिया जाये, सिर्फ जमीदारो की सम्मति से ही योजना या कानून बना लिया जाये, तो इसका परिणाम यह होगा कि ऐसे नियम या योजना से किसान-समाज का हित नही होगा। इसी प्रकार धारा-सभा मे यदि कोई महिलोपयोगी कानून बनने जा रहा है, और उसपर पहले से राष्ट्र की महिलाओ के लोकमत को जानने का प्रयत्न नही किया जाता, तो ऐसे कानून के बन जाने से महिलाओ का क्या हित-साधन होगा? सच तो यह है कि जिस व्यक्ति को कोई अभाव या आवश्यकता

है, वही भलीभांति अपनी आवश्यकता प्रकट कर सकता है।

अधिकार और कर्त्तव्य

नागरिकता एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक अधिकार है। वह किसी व्यक्ति-विशेष या व्यक्ति-समूह की वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं है। नागरिक समाज का एक अंग है और उसे जो नागरिक-अधिकार प्राप्त हैं, वे केवल इसलिए कि वह उनका प्रयोग इस ढंग से करे कि जिससे अपना हित-साधन करते हुए वह समाज के अन्य सदस्यों को हानि न पहुंचा सके। यदि किसी मनुष्य के नागरिक अधिकारों के प्रयोग में दूसरे को हानि पहुंची तो उससे समाज का कल्याण नहीं हो सकता और जिस लोक-संग्रह की दृष्टि से राज्य ने नागरिक स्वाधीनता प्रदान की है, उसका अभिप्राय भी सिद्ध नहीं होता।

इससे यह सिद्ध होता है कि समाज में अधिकारों के साथ-साथ कर्त्तव्यों का भी उतना ही मूल्य है। यदि किसी व्यक्ति को कोई अधिकार राज्य ने दिया है, तो दूसरे व्यक्तियों के लिए वही अधिकार कर्त्तव्य बन जाता है। उदाहरणार्थ, एक नागरिक अपने भाषण-स्वाधीनता के अधिकार का प्रयोग करता है, तो ऐसी दशा में दूसरे नागरिकों का यह कर्त्तव्य है कि वह उसकी इस स्वाधीनता में बाधा न डाले जबतक कि उसका भाषण क़ानून-विरुद्ध अथवा मानहानिकर न हो।

वास्तव में नागरिकों की पारस्परिक सहयोग की भावना और कर्त्तव्य-परायणता ने ही नागरिक-अधिकारों को जन्म दिया है। यदि नागरिक सहयोगपूर्वक नागरिक-स्वाधीनता की रक्षा व उसका उपभोग न करें और उन अधिकारों द्वारा जो कर्त्तव्य निर्धारित हुए हैं, उनका तत्परता से पालन न करें, तो हम समाज में अधिकारों की कल्पना नहीं कर सकते।

डॉ० बेनीप्रसाद का यह मत उचित है कि अगर उपयुक्त जीवन-निर्वाह की अवस्थाओं को सबके लिए सुरक्षित रखना है, तो प्रत्येक व्यक्ति को उनके उपयोग की आशा करनी चाहिए और साथ-ही-साथ दूसरा

आदमी को इस प्रकार काम करना उचित है कि दूसरे लोगो के उपभोग मे किसी प्रकार की बाधा न पडे। यही नही प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि ऐसी परिस्थितियो को सबके लिए सुलभ करने मे निश्चित रूप से प्रोत्साहन दे। एक व्यक्ति के सम्बन्ध मे जो अधिकार है, वह दूसरो के लिए कर्त्तव्य है। इस प्रकार अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरे के आश्रित है। वे एक ही वस्तु के दो पहलू है। अगर कोई उनको अपने दृष्टिकोण से देखता है तो वे अधिकार है और अगर दूसरो के दृष्टिकोण से देखता है तो वे कर्त्तव्य है। दोनो सामाजिक है और दोनो असल मे उपयुक्त प्रकार के जीवन की अवस्थाएँ है, जिन्हे समाज के सभी व्यक्तियो के लिए सुलभ बनाना चाहिए।[1]

नागरिक समानता

इंग्लैण्ड के सुविख्यात राजनीतिशास्त्री श्री हेरल्ड लास्की ने लिखा है —

"जिस राज्य में नागरिक स्वाधीनता को अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर होना है वहाँ समानता होना भी जरूरी है। राज्य में नागरिको में जितनी अधिक समानता होगी सामान्यतया उतना ही अधिक वे अपनी स्वाधीनता का उपभोग कर सकेगे।"[2]

नागरिक-स्वाधीनता और समानता एक ही वस्तु नही है। दोनो मे अन्तर है। यदि राज्य मे कुछ निश्चित समानताएँ प्राप्त न हो तो यह सभव नही कि हम नागरिक-स्वाधीनता का उपभोग कर सके।

समानता और असमानता के सबध मे यह स्पष्ट रूप से जान लेना आवश्यक है कि विश्व मे प्राकृतिक समानता का कही भी अस्तित्व नही है। प्रत्येक वस्तु मे रचना, आकृति और रग-रूप के कारण भिन्नता होना स्वाभाविक है। एक पिता की दो सन्तानो मे भी आकृति, रूप-रग,

---

१ डॉ० बेनीप्रसाद 'नागरिक-शास्त्र', पृ० ४१

२. लास्की 'लिबर्टी इन द मॉडर्न स्टेट (१९३०), पृ० १६-१७

आचार-विचार और स्वभाव की समानताएँ नहीं होती। अत जब समाज या राज्य समानता की आवश्यकता पर जोर देता है तब उसका तात्पर्य इस प्राकृतिक समानता से नहीं होता।

ससार मे दो प्रकार की असमानताएँ दिखायी देती है। एक प्रकार की असमानताएँ वे है जो प्राकृतिक योग्यता की विभिन्नताओ से उत्पन्न होती है और दूसरे प्रकार की वे है जो समाज या राज्य द्वारा प्रदत्त सुविधाओ की असमानताओ द्वारा पैदा हुई है।

अत नागरिक-समानता का यह अभिप्राय नहीं कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक रूप से समान बना दिया जाये या शिक्षा की दृष्टि से सब नागरिको को समान बना दिया जाये। प्रत्युत नागरिक-समानता का अर्थ तो यह है कि आत्म-विकास के लिए समाज या राज्य द्वारा जो सुयोग एव सुविधाएँ प्राप्त है, उनके उपभोग का प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार होना चाहिए। स्पष्ट शब्दो मे इसका मतलब यह है कि समाज या राज्य की ओर से ऐसी विभिन्नताओ एव भेदभाव की व्यवस्था नहीं होनी चाहिए कि जिसके कारण व्यक्ति आत्म-शक्तियो का सम्यक् विकास न कर सके। इसका फलितार्थ यह है कि राज्य मे किसी वर्ग-विशेष के लिए 'विशेषाधिकार' या 'विशेष रियायते' नहीं होनी चाहिएँ। विशेषाधिकार तो समाज मे विषमता को जन्म देते है।

यदि राज्य की ओर से ऐसा कानून हो कि उत्तरदायित्वपूर्ण उच्च सरकारी पदो पर केवल जमींदार या पूँजीपति वर्ग के उम्मीदवारों को ही नियुक्त किया जायेगा, वैश्यों, ब्राह्मणो अथवा दलित-वर्ग के व्यक्तियो को सेना मे भरती नहीं किया जायेगा, या ब्राह्मणो तथा कायस्थ जातियो के व्यक्तियो को उच्च शिक्षा की अधिक सुविधाएँ दी जायेंगी तो, ऐसी व्यवस्था का दुष्परिणाम यह होगा कि शासन-सचालन के कार्य से जनता का एक बहुत बडा भाग वचित रह जायेगा। ब्राह्मण, वैश्य तथा दलित-वर्ग के सेनाओ में भरती न होने से उनमे वे गुण पैदा न हो सकेंगे जो सैनिक-जाति में होते है। फलत एक विशेष सैनिक जाति बन जायगी और धीरे-धीरे देश की अन्य जातियाँ उसके अयोग्य हो जायेंगी। यदि केवल ब्राह्मणो या

सामन्तों के लिए ही शिक्षा की अधिक सुविधा रही, तो समाज के दूसरे वर्ग शिक्षा में पिछड़े रह जायेंगे। इसी प्रकार किसी वर्ग-विशेष को शासनाधिकार अथवा शिक्षा की सुविधाओं से जात-पाँत, धर्म या रंग आदि के कारण वंचित रखना भी उसके साथ घोर सामाजिक अन्याय होगा।

अतः समाज में कुछ वर्गों के लिए 'विशेषाधिकार' और कुछ वर्गों के लिए 'प्रतिबन्ध' दोनों ही विषमता को जन्म देनेवाले हैं। इनसे नागरिक जीवन में सामंजस्य, सहयोग और शान्ति की जगह संघर्ष, स्पर्द्धा और अशान्ति के भाव पैदा होंगे। प्रोफेसर हैराल्ड लास्की का यह कथन सत्य ही है कि "प्रत्येक व्यक्ति को यथासम्भव समान सुयोग देना चाहिए जिससे वह उन शक्तियों का उपयोग कर सके जिन्हें उसने प्राप्त किया है।"

भारत का शासन-विधान और मौलिक अधिकार

भारत के शासन-विधान में नागरिकता के मौलिक अधिकारों का कहीं उल्लेख नहीं है। आज के युग में प्रत्येक प्रजातन्त्र-राज्य के विधान में नागरिकता के मौलिक अधिकारों की घोषणा को सबसे पहले महत्त्व का स्थान प्राप्त है। ऐसी दशा में भारत के शासन-विधान में यह अभाव, वास्तव में, नागरिक-स्वाधीनता के लिए एक खतरा है। यद्यपि नागरिकों के मौलिक अधिकार प्रत्येक राज्य के स्वरूप पर निर्भर हैं, परन्तु यह तो स्पष्ट है कि प्रत्येक राज्य में नागरिकों को अधिकार होने चाहिएँ। जो राष्ट्र प्रजातन्त्रवादी हैं, उनमें उन राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक नागरिक अधिकार होते हैं जो फासिस्ट हैं। समाजवादी राज्यों में व्यक्तियों को और भी अधिक अधिकार होते हैं।

पं० जवाहरलाल नेहरू का मत है कि

"भविष्य में भारत का सामाजिक संगठन चाहे जैसा हो, व्यक्ति की स्वाधीनता की रक्षा के लिए कुछ ऐसे मौलिक अधिकार हैं, जिन्हें हम विधान में स्थान देना चाहते हैं। ये अधिकार इस प्रकार के हैं—धार्मिक स्वाधीनता, मत-प्रकाशन की स्वाधीनता, सभा-संगठन की

स्वाधीनता, संस्कृति और भाषा की रक्षा, कानून की दृष्टि में सभी नागरिको की समानता और इसी प्रकार शासनाधिकार में, व्यवसाय-व्यापार में धर्म, जाति या 'सेक्स' के भेदभाव के बिना समानता और इसी प्रकार के अधिकार।"

"हमारी यह धारणा है कि देश में समस्त अल्प-संख्यक जातियों के आश्वासन के लिए भारतीय शासन-विधान में इन मौलिक अधिकारो के सम्बन्ध में एक गारंटी होनी चाहिए।

"इसके लिए कांग्रेस का कराची-प्रस्ताव और पाश्चात्य शासन-विधानो की नागरिक-स्वाधीनता-सम्बन्धी धाराएँ नमूने के तौर पर ली जा सकती है।"[1]

वर्तमान शासन-विधान की धारा २९८ में नागरिको का यह अधिकार तो स्वीकार किया गया है कि सरकारी पदो पर नियुक्ति के सम्बन्ध मे या किसी सम्पत्ति के प्राप्त करने या बेचने अथवा व्यवसाय-व्यापार करने में केवल धर्म, जाति, जन्म-स्थान, रग या इनमे से किसी के कारण कोई भी नागरिक अयोग्य न माना जायेगा।

विधान की धारा २७५ मे यह उल्लेख किया गया है कि कोई भी व्यक्ति लिंग-भेद के कारण ब्रिटिश भारत मे किसी 'सिविल सर्विस' या 'सिविल पोस्ट' पर नियुक्त होने के अधिकार से वचित न किया जायेगा। परन्तु गवर्नर जनरल, गवर्नर और भारत-मन्त्री अपने विशेष आर्डर द्वारा स्त्रियो को सरकारी पदो पर नियुक्त होने के अधिकार से वचित कर सकेगे।

शासन-विधान की २९८ वीं धारा के होते हुए भी भारत मे ऐसे अनेक वर्ग है, जिन्हे जातिभेद के कारण, शासनाधिकार में व्यावहारिक समानता प्राप्त नही है। 'दलितवर्ग' जो हिन्दू-समाज का ही अग है, आज भी उच्च सरकारी पदो पर नियुक्त नही किया जाता। यही नही इस वर्ग के सदस्यो को व्यापार-व्यवसाय मे भी समानता प्राप्त नही

---

१ प्रो० के० टी० शाह : 'फेडरल स्ट्रक्चर' (१९३७), पृ० ५१६

है। इस वर्ग के लोग बाजारो मे कोई ऐसी दुकान नही खोल सकते जिसमे खाने-पीने की चीजे बिकती हो।

भारत मे पदाधिकार के सम्बन्ध मे लिंग-भेद की व्यवस्था शुरू से कायम है। आज भी विधान की २६५ वी धारा के होते हुए महिलाओ को इंडियन सिविल सर्विस, प्रान्तीय सिविल सर्विस आदि की प्रतियोगिताओ मे बैठने की आज्ञा नही है। सेना मे तो उनके लिए कानूनी प्रतिबन्ध है। यह वास्तव मे विधान का एक बडा दोष है।

आर्थिक समानता

यदि राज्य मे नागरिको को आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त है और आर्थिक समानता नही है, तो इसका परिणाम यह होगा कि समाज मे आर्थिक विषमता पैदा हो जायेगी और ऐसे वातावरण मे सच्ची आर्थिक स्वाधीनता का उपभोग भी नही किया जा सकेगा।

जबतक आर्थिक समता की स्थापना नही हो जाती, तबतक राजनीतिक समता—नागरिको का समान मताधिकार—व्यर्थ है। उससे वे आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त नही कर सकते। आधुनिक राज्य का केवल इतना यही कार्य नही है कि वह चोर और डाकुओ से नागरिको के जीवन और सम्पत्ति की और इस प्रकार नागरिक-स्वाधीनता की रक्षा करे, उनके लिए प्रजातन्त्र-शासन-पद्धति तथा अन्य नाना प्रकार के नागरिक सुखो के लिए सुविधाएँ प्रदान करे। आज के युग मे इन सबसे नागरिक-जीवन का उत्कर्ष सम्भव नही। यह आर्थिक युग है। इसलिए राज्य को ऐसी आर्थिक व्यवस्था भी स्थापित करनी चाहिए जिसमे सभी नागरिक पूरी तरह सुखी रह सके और अपने जीवन को ऊँचा बना सके। यदि राज्य मे भयकर बेकारी होगी, बेहद गरीबी होगी, कुछ मुट्ठी भर लोग लखपति और करोड़पति, मिलो और कम्पनियो के मालिक तथा भूमि के स्वामी होगे और शेष विशाल जन-समुदाय को नागरिक जीवन की सम्पन्न सुविधाएँ तो दूर भरपेट अन्न भी दोनो वक्त न मिलेगा, तो क्या यह आशा की जा सकती

है कि अधभूखे और अर्द्धनग्न जन आर्थिक स्वाधीनता भोग सकेगे ?

आज ससार के सभी प्रजातन्त्रो मे अधिकाश नागरिक आर्थिक दृष्टि से दुखी है। वहाँ भयकर बेकारी गरीबी बढती जा रही है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इन पाश्चात्य प्रजातत्रो ने आज तक आर्थिक न्याय या आर्थिक समता की स्थापना के लिए ईमानदारी से कोई प्रयत्न नहीं किया। ससार मे सोवियट रूस ही एक ऐसा राष्ट्र है जिसने अपने शासन-विधान के मौलिक अधिकारो की घोषणा मे यह स्वीकार किया है कि **"सोवियट रूस के नागरिको को परिश्रम करने का अधिकार है अर्थात् उन्हे काम के परिमाण तथा उसकी किस्म के अनुसार अपने परिश्रम के लिए नियत वेतन पर पारिश्रमिक का अधिकार है।"**

सोवियट रूस मे राज्य की ओर से प्रत्येक नागरिक को अपनी योग्यतानुसार काम माँगने का अधिकार है और उसके लिए नियत वेतन भी।

आर्थिक समता की स्थापना के लिए समाज को आर्थिक ढाँचा नये ढग से खडा करना होगा। इसमे मौलिक परिवर्तन की जरूरत है। समस्त व्यवसायो, कम्पनियो, कारखानो, रेलो, बैंको आदि पर राज्य का नियत्रण या अधिकार होना चाहिए। श्री श्रीनिवास अयगार ने लिखा है —

"संसार की आर्थिक व्यवस्था में सबसे अधिक सकट ज्वाइट स्टाक कम्पनियो ने पैदा किया है, इसलिए इनका पूर्णत परित्याग किया जाये, साझेदारी भी मर्यादित कर दी जाये, उसके साझेदारों की संख्या कम कर दी जाये तथा उसका क्षेत्र भी सीमित कर दिया जाये। बैंक, बीमा, जहाज तथा यातायात आदि राज्य के अधिकार में हों। नहर आदि का निर्माण बडे पैमाने पर राज्य की ओर से किया जाये। शस्त्रादि बनानेवाली कम्पनियो का नियत्रण भी राज्य के अधिकार में हो। इस प्रकार राज्य की ओर से राष्ट्रीय व्यवसाय-धन्धों को इतना प्रोत्साहन दिया जाये कि जिससे बेकारी व ग़रीबी दूर हो जाये और वेतन तथा पारिश्रमिक का मान-दण्ड बढ जाये। सक्षेप में, एक नियोजित

आर्थिक योजना, जो जनता की समस्त श्रेणियो की मौलिक मानवीय आवश्यकताओ को पूरा कर सके, आज भारत मे प्रजातन्त्र की सफलता के लिए सबसे पहली शर्त है; क्योकि वह (प्रजातन्त्र) उसी सीमा तक स्थायी होगा जिस सीमा तक वह जनता को यह गारण्टी दे सके कि जनता की आर्थिक उन्नति उसका प्रमुख लक्ष्य है।''[1]

वैयक्तिक स्वाधीनता

वैयक्तिक स्वाधीनता का अर्थ है व्यक्ति की स्वाधीनता। प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है इसलिए उसका कर्त्तव्य है कि वह दूसरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता की भी रक्षा करे। आत्म-रक्षा का नियम भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता का ही एक फलितार्थ है। समाज या राज्य के निर्माण मे नागरिको का योगदान होता है, इसलिए नागरिको की वैयक्तिक स्वाधीनता सामाजिक जीवन के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यदि किसी व्यक्ति को यह विश्वास न हो सके कि वह राज्य मे वैयक्तिक स्वाधीनता का उपभोग कर सकता है, तो वास्तव मे उसका जीवन दूभर हो जायगा।

मनुष्य का जीवन वैयक्तिक दृष्टि से ही मूल्यवान् नही है, बल्कि समाज और राज्य के दृष्टिकोण से भी वह बहुमूल्य है। यही कारण है कि राज्य मानव-जीवन की रक्षा को अपना पवित्र कर्त्तव्य समझता है। मानव-जीवन की रक्षा के लिए सेना और पुलिस का राज्य की ओर से प्रबन्ध जरूर होता है। परन्तु पुलिस के लिए हर समय और हर स्थान मे प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की रक्षा करना सम्भव नही है। इसलिए राज्य ने प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-रक्षा का अधिकार दे रखा है। यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की हत्या करने के प्रयोजन से उसपर साघातिक आक्रमण करे, तो वह अपनी रक्षा के लिए प्रत्येक सम्भाव्य साधन को काम मे ला सकता है। यहाँ तक कि यदि वह आक्रमणकारी

---

१ श्री श्रीनिवास अयगार : 'प्रॉब्लैम्स ऑफ डेमोक्रेसी इन इण्डिया' (१९३९), पृ० ६९

जीवन का अन्त भी कर दे तो राज्य उसे इसके लिए दण्ड नहीं दे
प्रत्येक देश मे आत्म-रक्षा के लिए नागरिको को अस्त्र-शस्त्र धारण
का भी अधिकार है।

साथ ही चूँकि राज्य का यह परम कर्तव्य है कि वह समस्त नाग
और व्यक्तियो के जीवन की रक्षा करे, इसलिए यदि कोई व
आत्मघात द्वारा अपने जीवन का अन्त करने का प्रयत्न करे, तो
उसे इसके लिए दण्ड देगा।

शरीर-स्वाधीनता

शरीर-स्वाधीनता का अभिप्राय यह है कि वह राज्य मे अपने ग
स्वतन्त्रता से रह सके। उसकी स्वीकृति, इच्छा या आज्ञा के बिना
व्यक्ति उसके गृह में प्रवेश न कर सके और जबतक कि राज्य के क
के अनुसार मजिस्ट्रेट ने उसकी गिरफ्तारी के लिए वारण्ट न
किया हो अथवा पुलिस को यह सन्देह न हो कि उसने राज्य के क
के विरुद्ध ऐसा अपराध किया है जिससे वह बिना वारण्ट के भी गिरप
किया जा सके तबतक राज्य भी उसे गिरफ्तार न कर सके। ज
कोई भी नागरिक कानून के अनुसार न्यायालय मे दोषी प्रमाणित न
जाये और यह निस्सन्देह सिद्ध न हो जाये कि उसने वह अपराध
समय किया था जबकि वह कानूनन अपराध था, तबतक केवल स
के आधार पर कोई भी व्यक्ति अनिश्चित काल के लिए नजरबन्द
किया जा सकता और न हवालात मे २४ घटे से ज्यादा रखा जा स
है। जबतक वह दोषी प्रमाणित न हो जाये, तबतक उसे कोई शारी
दण्ड नही दिया जा सकता।

भारतवर्ष में नागरिको को शरीर-स्वाधीनता पूर्ण रूप से प्राप्त
है। यहाँ आज भी ऐसे दमनकारी कानून मौजूद है जिनके अस्ति
मे उन्हे शरीर-स्वाधीनता नही है। मद्रास, बम्बई तथा कलकत्त
आज से एक शताब्दी से भी अधिक पुराने 'रेग्यूलेशन' (१८१८) आज
प्रचलित है, जिनके अनुसार किसी भी व्यक्ति को बिना किसी न्याया

मे दोषी प्रमाणित किये वर्षों तक राजबन्दी बनाकर रखा जा सकता है। सन् १९३१ के सत्याग्रह-आन्दोलन मे महात्मा गांधी को बम्बई रेग्यूलेशन (१८१८) के अनुसार राजबन्दी बनाकर पूना-जेल मे रखा गया। जनवरी सन् १९३२ मे श्री सुभाषचन्द्र बसु को ऐसी रेग्यूलेशन के अनुसार राजबन्दी बनाकर रखा गया था।

भारत के हर एक प्रान्त मे क्रिमिनल लॉ एमेण्डमेंट एक्ट जारी है। इसके अनुसार किसी भी व्यक्ति को सदेह मे गिरफ्तार करके राजबंदी बनाया जा सकता है। पजाब और बगाल प्रान्त मे राष्ट्रीय जागरण को दबाने के लिए घोर-से-घोर दमनकारी कानून आज भी प्रचलित है। वर्तमान् युद्ध के कारण तो यह दमन अपनी चरम-सीमा को पार कर चुका है। सन् १९३७ मे बगाल के आतकवारी-दमन-कानून के अनुसार वहाँ १२ हजार व्यक्ति नजरबन्द थे। बाद मे महात्मा गाधी के प्रयत्न से कुछ नजरबद रिहा कर दिये गये।

नागरिकता का मौलिक सिद्धान्त यह है कि जबतक कोई व्यक्ति दोषी सिद्ध न हो जाये तबतक उसे दण्ड नहीं दिया जा सकता। केवल सन्देह मे किसी को बन्दी बनाकर रखना तो कानून की दृष्टि मे भी अन्याय है। ऐसा करने का अर्थ तो यह हुआ कि जिन लोगो के हाथ मे कार्यकारिणी सत्ता है, वे ही न्यायाधीश बन गये।

विचार-स्वाधीनता

विचार-स्वाधीनता नागरिक-जीवन के विकास और उत्कर्ष के लि[ए] सबसे महत्त्वपूर्ण है। जिन राज्य के नागरिक विचार-स्वाधीनता (अर्था[त्] मत-प्रकाशन की स्वाधीनता) का बेरोक-टोक उपभोग करते है, उन[...] साहित्य, कला, ज्ञान-विज्ञान की आश्चर्यजनक प्रगति और प्रसार होना [...] विचार किया जाये तो वास्तव मे विचार ही मनोभाव प्रकट करने [...] अमोघ साधन है। जिन देशो मे विचार-स्वाधीनता नहीं उन देशो [...] विचार-मौलिकता को प्रोत्साहन मिलता है और न विचार-शान्ति के [...] उपयुक्त क्षेत्र ही मिलता है। जिस प्रकार तालाब का रुका हुआ जल [...]

जाता है, उसमे रोग के जीवाणु पैदा हो जाते है और जल की स्वास्थ्यप्रद शक्तियाँ नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार जिस राज्य में विचार तथा उसके प्रकाशन की स्वाधीनता नही है, उसके नागरिकों का मानसिक विकास भी पूर्ण रूप से नही हो सकता। विचार-स्वाधीनता का उपभोग करनेवाले नागरिकों का विचार-प्रवाह उसी प्रकार विमल और पवित्र होता है जिस प्रकार नदी का जल।

कुछ लोगो का विचार यह है कि विचार स्वाधीनता पर इसलिए प्रतिबन्ध लगाना जरूरी है कि गलत और भ्रान्तिपूर्ण विचार जनता मे न फैलने पावे। परन्तु विचारो मे तो भिन्नता उसी समय पैदा होती है जब किसी प्रश्न पर सन्देह हो। ऐसी दशा मे यह आवश्यक है कि प्रश्न के दोनो पहलुओ पर विचार कर लिया जाये।

ब्रिटेन के प्रसिद्ध शिक्षा-विज्ञ श्री डबल्यू बी करी का मत है कि **"मत-सघर्ष से ही ज्ञान और विद्वत्ता का जन्म होता है और मनुष्य अपने विचारो को भी उस समय तक भलीभाँति कभी नही समझ सकता जबतक कि उसने अपने विरोधी के विचारो को भली भाँति न समझ लिया हो। यह कहा जा सकता है कि विचार तो स्वतत्र ही होता है, केवल भाषण पर ही प्रतिबध लगाया जा सकता है। सैद्धान्तिक रूप से नजरबन्दी की दशा में एक व्यक्ति चाहे जैसा विचार कर सकता है, परन्तु उसका विचार उसी समय फलप्रद हो सकता है, उसी समय वह अधिक विचार कर सकता है, जब उसे अपने विचारो पर बहस करने और उन्हे प्रकाशित करने का अधिकार हो और उसके विचारो में इतनी शक्ति हो कि वे कार्य्यान्वित भी हो सके।"[1]**

विचारो की प्रगति और उसके साथ अन्य सभी प्रकार की उन्नति नये-नये विचारो के ही आधार पर निर्भर है। विचारो के विकास के लिए उनपर बहस और आलोचना के लिए पूरी स्वतत्रता मिलनी चाहिए।

प्रोफेसर लास्की का यह कथन वास्तव मे सच ही है कि—

---

१. डबल्यू बी करी 'द केस फॉर फेडरल यूनियन'(१९४०); पृ ९२

'अधिकांश व्यक्ति जिन्हें निजी अनुभव के आधार पर विचार-मंथन करने की सुविधा नहीं मिलती, विचार करना ही बंद कर देते हैं। जो व्यक्ति विचार करना बन्द कर देते हैं, वे सच्चे अर्थ में नागरिक नहीं रहते।'[२]

अतः यह निर्विवाद है कि व्यक्तित्व के विकास, समाज के उत्कर्ष और राज्य की समृद्धि के लिए विचार और मत-प्रकाशन की स्वाधीनता अत्यन्त आवश्यक है।

मनुष्य अपने विचार मुख्यतः दो रूपों में प्रकट करता है—भाषण और लेखन। भाषण-स्वाधीनता का सभा-संगठन की स्वाधीनता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके अतिरिक्त मनुष्य अपने विचार समाचार-पत्र, पुस्तक, चित्र, संगीत, संकेत, कार्टून (व्यंग्यचित्र), रेडियो, चित्रपट आदि द्वारा व्यक्त करता है।

राज्य में प्रत्येक नागरिक को भाषण और लेखन की पूर्ण स्वाधीनता होनी चाहिए। प्रत्येक नागरिक को सार्वजनिक प्रश्नों पर अपने विचार प्रकट करने एवं आलोचना करने का अधिकार होना चाहिए। किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में भी उसे अपने विचार व्यक्त करने का अधिकार है। परन्तु इस सम्बन्ध में इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि उसके सम्बन्ध में केवल ऐसे विचार ही व्यक्त किये जायें जो सार्वजनिक महत्त्व के हों। किसी नागरिक या व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन को सर्व-साधारण के सामने केवल सामाजिक हित की दृष्टि से ही प्रकट करना उचित है। यदि उससे समाज का हित नहीं होता तो ऐसा मत-प्रकाशन व्यर्थ है।

नागरिक के मत-प्रकाशन के अधिकार पर राज्य की ओर से कुछ प्रतिबन्ध भी लगाये जाते हैं। उन्हें ऐसे विचार प्रकट करने का अधिकार नहीं है, जो ईश्वर या किसी धर्म के अनुयायियों की धर्म-भावना पर आघात करें, अश्लील हों, अपमान-जनक हों, राजद्रोहात्मक हों अथवा हिंसा, अशान्ति या उपद्रव को उत्तेजन दें।

नागरिकों को धर्म के सम्बन्ध में स्वाधीनता है। वे दूसरे धर्म के

---

२ हे. जे. लास्की : 'लिबर्टी इन द मॉडर्न स्टेट' (१९३०); पृ. ९९

विचार-स्वाधीनता या मत-प्रकाशन की स्वाधीनता पर एक प्रति-
र और भी है—किसी व्यक्ति के लिए कोई अपमानजनक वचन न
ा जाये और न लिखा जाये। जबतक अपमानजनक भाषण या लेख
ा न हो और उसकी कोई सार्वजनिक उपयोगिता न हो, तबतक
सका प्रकाशन अनुचित है। यदि कोई व्यक्ति दुराचारी, भ्रष्टाचारी
ा पतित है और उसका सार्वजनिक जीवन मे प्रमुख स्थान है, तो
के भ्रष्टाचार को, यदि वह सत्य है तो, जनता के सामने प्रकट करना
र्वजनिक हित मे होगा। इसलिए ऐसा मत-प्रकाशन अपमानजनक
ी कहा जा सकता।

विचार-स्वाधीनता और मत-प्रकाशन पर एक बडा प्रतिबध यह है
भाषण या लेख राजद्रोहात्मक न हो। सामाजिक सगठन अथवा
ासन-पद्धति के सम्बध मे प्रत्येक नागरिक को अपना मत प्रकट करने
ा अधिकार है। भारत मे सरकार के किसी कार्य की आलोचना तथा
ाति की निंदा भी राजद्रोह माना जाता है। यहाँ राजद्रोह सबसे बडा
जनीतिक अपराध है। भारतीय-दण्ड-विधान की धारा १२४ अ का
योग सदैव भारतीय राष्ट्रीय जागरण का दमन करने के लिए किया
ाता रहा है। जुलाई सन् १९३७ मे जब भारत के सात प्रान्तो—मद्रास,
म्बई, सयुक्तप्रान्त बिहार, उडीसा, मध्यप्रान्त, सीमा प्रान्त और आसाम
कांग्रेस-दल के मत्रि-मण्डलो की स्थापना हुई, तो जनता ने सबसे
हले अग्रेजी राज्य मे नागरिक-स्वाधीनता का अनुभव किया। किसी भी
यक्ति पर राजद्रोह का अपराध लगाना बन्द कर दिया गया। बम्बई-
रकार के तत्कालीन गृह-मत्री श्री कन्हैयालाल मुन्शी ने बम्बई-असेम्बली
अपने (१५ सितम्बर १९३७ के) एक भाषण मे कहा था—

'कांग्रेस व्यक्ति की स्वाधीनता का समर्थन करती है, क्योंकि उसका
अहिंसा और प्रजातंत्र में अटल विश्वास है। हमारे लिए स्वाधीनता
केवल भौतिक लाभ की चीज नहीं है। इसे हम इतिहास की भौतिकवादी
व्याख्या की तुला में नहीं तोल सकते। स्वाधीनता हमारे लिए एक
अपने ढंग का चमत्कार है। ईश्वर और कानून के राज्य में बोलना, काम

आतंकवाद शुरू होजाने पर समूचे प्रान्त को नजरबन्द-शिविर बना दिया जाय या फौजी कानून (मार्शल लॉ) जारी कर दिया जाये। भारत मे सन् १९१९ मे अमृतसर, लाहौर, कसूर, गुजरावाला, और शेखूपुरा मे फौजी कानून जारी किया गया। इस प्रकार नागरिक-स्वाधीनता का बुरी तरह दमन किया गया। सन् १९३० मे शोलापुर और पेशावर मे फौजी कानून का शासन रहा।

वर्तमान् युद्ध के प्रारम्भ होने के बाद तुरन्त ही भारत के गवर्नर-जनरल ने भारत-रक्षा-कानून जारी कर दिया। इस कानून का क्षेत्र इतना व्यापक है कि आज सारे देश की स्वाधीनता का दमन इसीके द्वारा हो रहा है जबकि भारत-रक्षा-कानून का लक्ष्य है ब्रिटिश भारत की रक्षा, सार्वजनिक व्यवस्था की रक्षा, कुशलतापूर्वक युद्ध-सचालन, अथवा समाज के जीवन के लिए आवश्यक चीजो और सेवाओ की व्यवस्था।

सरकारे ऐसा क्यो किया करती है ? इसका उत्तर देते हुए प्रोफेसर लास्की ने लिखा है—

" · ···जब न्याय-व्यवस्था का कार्य सामान्य न्यायालयो से लेकर शासन के किसी दूसरे अग को सौंप दिया जाता है, तो उसका सदैव दुरुपयोग होता है। व्यक्ति की समुचित रक्षा के प्रश्न को इस विश्वास पर विस्मृत कर दिया जाता है कि आतक के शासन से जनता की अश्रद्धा (Disaffection) कम हो जायेगी। इसका कोई प्रमाण नही कि ऐसा हो जाता है। यदि ऐसा हो सकता, तो रूसी क्रान्ति ही न होती और आज भारतीय स्वायत्त-शासन के लिए कोई आन्दोलन न हुआ होता।"[१]

भारत मे समाचार-पत्रो की स्वाधीनता पर भी कुठाराघात हो रहा है। नये-नये आर्डर जारी किये जा रहे हैं। इन सबके ऊपर सेसर का एकछत्र राज्य है। सभाओ और सम्मेलनो पर प्रतिबंध लगा दिये गये हैं। पुलिस के अधिकारियो से पूर्व आज्ञा प्राप्त किये बिना कोई सभा नही की जा सकती, चाहे उस सभा का युद्ध से कोई सम्बन्ध ही न हो।

---

१ हेरल्ड लास्की 'लिबर्टी इन द मॉडर्न स्टेट'

प्रत्युत वह लोकमत बनाने का भी उतना ही शक्तिशाली साधन है। वास्तव में प्रजातंत्र की सफलता के लिए प्रगतिशील लोकमत की आवश्यकता है। उसके अभाव में उसका जीवन सफल नहीं हो सकता। शान्ति-काल में समाचार-पत्र स्वतन्त्र की सरकारी नीति तथा कार्यों की आलोचना करते हैं जिससे जनता को सरकारी कार्यों का यथावत् ज्ञान हो सके। वे किसी भी सार्वजनिक प्रश्न को सरकार तक पहुँचाने के साधन हैं। परन्तु युद्ध-काल में तो समाचार-पत्रों का उत्तरदायित्व और भी महान् एवं गंभीर हो जाता है। युद्ध के कारण देश में जो भय और आतंक एवं गलतफहमियाँ तरह-तरह की अफवाहों के कारण पैदा हो जाती हैं, उनके दूर करने में समाचार-पत्र बड़ी सहायता करते हैं। युद्ध-संचालन तथा देश-रक्षा के प्रयत्नों के सम्बन्ध में प्रचार के लिए समाचार-पत्र से बढ़ कर कोई साधन नहीं है।

भारतवर्ष में सरकार समाचार-पत्रों की स्वाधीनता का सदैव दमन करती रही है। इसका कारण यह है कि भारत के अधिकांश लोकप्रिय और प्रभावशाली अंग्रेजी तथा प्रान्तीय भाषाओं के पत्र राष्ट्रीय हैं अथवा राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सहानुभूति रखते हैं। उन्हें भारत में अंग्रेजी सरकार की नीति की आलोचना करनी पड़ती है इसलिए उनके सिर पर भी हर समय 'प्रेस एक्ट' सवार रहता है।

सन् १९३१ में इंडियन प्रेस (इमर्जेन्सी पॉवर्स) एक्ट आतंकवाद का नाश करने के लिए बनाया गया। वह उसी समय की विशेष परिस्थिति के कारण बनाया गया था। परन्तु वह आज तक मौजूद है। अब समाचार-पत्रों को इसी कानून के अनुसार राजद्रोह, जातीय या वर्गीय द्रोह, फौजी-भर्ती-विरोध तथा सैनिकों को उत्तेजना देने आदि के लिए दण्ड दिया जाता है। इस कानून के अनुसार समाचार-पत्रों से जमानतें माँगी जाती हैं। जब कोई नया समाचार-पत्र शुरू किया जाता है तो उसके प्रकाशन से पहले ही जमानत माँग ली जाती है। ये जमानतें नकद होती हैं और ५०० रुपये से लेकर १० या १५ हजार तक की होती हैं। जमानतें देने के बाद यदि समाचार-पत्र सरकारी नीति के विरुद्ध

इसके साथ-ही-साथ राज्य का यह भी कर्त्तव्य है कि वह धर्म के नाम पर उसकी आड़ में होनेवाले सामाजिक पापों के निवारण का प्रयत्न करे। हिन्दू-समाज में धर्म के नाम पर ऐसी अनेक कुप्रथाएं प्रचलित है जो समाज के लिए हानिकर है—जैसे, बाल-विवाह, बाल-हत्या, सती-प्रथा, नरमेध, धार्मिक अंध-विश्वास, अस्पृश्यता, जातपांत आदि। समाज-कल्याण के लिए इनके निवारण का भी राज्य की ओर से अवश्य प्रयत्न होना चाहिए। ऐसे प्रयास को धार्मिक हस्तक्षेप का नाम देना अविवेक है।

धर्म के सम्बन्ध में राज्य की निष्पक्षता का मतलब यह है कि राज्य को किसी एक धर्म के साथ अपनी विशेष सहानुभूति नहीं रखनी चाहिए और न उसे राज्य-कोष से विशेष मदद ही देनी चाहिए। राज्य के द्वारा सब धर्मों और उनके अनुयायियों के साथ समानता का व्यवहार होना चाहिए। जब 'धर्म' नागरिक जीवन की शान्ति में बाधक हो अथवा किसी धर्म के अनुयायियों की ओर से सरकार के सामने ऐसी मांगे रखी जाये जिनका मौलिक नागरिक अधिकारों से संघर्ष हो, तो राज्य को सार्वजनिक हितों का पूरा ध्यान रखते हुए ऐसे संघर्षों का निवारण करना चाहिए।

भारत में गो-वध, मसजिद के सामने बाजा बजाने, ताजिया और आरती आदि प्रश्नों को लेकर हिन्दू-मुसलमानों में विशेष रूप से त्यौहारों के समय बड़े दंगे हो जाया करते हैं। प्रत्येक नागरिक को राज-पथ का प्रयोग करने का अधिकार है। प्रत्येक धर्म के अनुयायी को अपने धर्म या समाज के जुलूस में भी शामिल होने का अधिकार है। हिन्दुओं को मन्दिरों में पूजा-पाठ और आरती करने का उतना ही अधिकार है जितना कि मुसल्मानों को नमाज पढ़ने का। अब यदि मुसल्मानों का यह आक्षेप है कि नमाज के वक्त सड़कों पर बाजा न बजाया जाये या आरती न की जाये, तो क्या कभी मुसलमान भी यह सोचने का प्रयत्न करेंगे कि यदि इसी प्रकार हिन्दू भी यह आक्षेप करे कि आरती के समय कोई नमाज न पढ़े या मुहर्रम के दिनों में ढोल न पीटे जायें क्योंकि इससे मन्दिरों के देवता अप्रसन्न होते हैं अथवा नागरिकों की नींद में खलल

पड़ता है, तो मुसलमान क्या करेंगे। इस प्रकार के अविवेकपूर्ण और धार्मिकता कट्टरताभरे आक्षेपों का तो अन्त ही नहीं आयेगा। इसलिए सामाजिक शान्ति के लिए सहनशीलता और सद्भाव की आवश्यकता है।

प्रत्येक धर्म के अनुयायी को यह भी अधिकार है कि वह अपने धर्म का जनता में प्रचार करे और दूसरे धर्मवालों को अपने धर्म में दीक्षित करे। इस प्रकार यह धर्म-प्रचार और धर्म-परिवर्तन का कार्य शान्तिपूर्वक होना चाहिए। बलपूर्वक किसी को धर्म में मिलाना उचित नहीं है। अनाथों, नाबालिगों और विधवाओं को धर्म-परिवर्तन का अधिकार नहीं होना चाहिए क्योंकि इन्हें प्रायः प्रलोभन देकर विधर्मी बना लिया जाता है।

व्यावसायिक स्वाधीनता

व्यवसाय का वैयक्तिक जीवन में ही नहीं बल्कि सामाजिक जीवन में भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्यावसायिक स्वाधीनता का मतलब है प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि, योग्यता और शक्ति के अनुसार व्यवसाय स्वीकार करने का अधिकार। जिस मनुष्य को अपनी रुचि के अनुसार काम मिल जाता है, वह उसमें बड़ी उन्नति कर सकता है। इसीलिए प्रत्येक को अपने मन का व्यवसाय पसंद करने का अधिकार होना चाहिए। कोई भी व्यक्ति अपनी जाति, धर्म या सम्प्रदाय के कारण किसी भी व्यवसाय या सरकारी पद से वंचित न किया जाये। यदि वह उसके योग्य न होगा तो स्वयं ही असफल होगा। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यवसाय को अपने हितों की रक्षा के लिए संगठन करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

अन्य नागरिक अधिकार

उपर्युक्त मौलिक अधिकारों के अतिरिक्त निम्नलिखित अधिकार भी मानव-जीवन को सुखी बनाने के लिए जरूरी हैं—

प्राथमिक तथा उच्च-शिक्षा

राज्य की ओर से समस्त नागरिकों के बालक-बालिकाओं की प्राथ-

मिक शिक्षा नि:शुल्क हो, ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए। उच्च शिक्षा-प्राप्ति के लिए भी राज्य को प्रोत्साहन देना चाहिए। जो जातियाँ शिक्षा मे पिछडी है उनके लिए शिक्षा का विशेष प्रबन्ध होना चाहिए जिससे वे शीघ्र-से-शीघ्र दूसरी शिक्षित जातियो के समान बन सके। छात्रवृत्तियो आदि द्वारा विश्वविद्यालयो मे उनके लिए सब प्रकार की सुविधाएँ दी जानी चाहिए।

आवागमन की स्वतंत्रता

प्रत्येक नागरिक को राज्य[1] की सीमा मे भ्रमण तथा प्रवास का अधिकार होना चाहिए। यदि राज्य की सीमा से बाहर जाना हो तो पासपोर्ट की सुविधा प्रत्येक नागरिक को मिलनी चाहिए।

सम्पत्ति का अधिकार

प्रत्येक नागरिक का अपनी अर्जित या प्राप्त सम्पत्ति और निजी आवश्यकता की चीजो पर व्यक्तिगत स्वामित्व होना जरूरी है, क्योकि इसके बिना उसका जीवन कठिन हो जायगा। परन्तु बडे-बडे व्यवसायो, कारखानो, कम्पनियो बैंको, रेलो, खानो, भूमि आदि पर राज्य या समाज का अधिकार होना चाहिए जिससे उत्पत्ति तथा वितरण के साधनो से समस्त समाज लाभ उठा सके और वे किसी व्यक्ति-विशेष या समूह की ही वैयक्तिक सम्पत्ति न रहे।

न्याय-प्राप्ति

प्रत्येक नागरिक कानून की दृष्टि मे समान है। इसका अर्थ यह है कानून धनी-निर्धन, मजदूर-मालिक, शिक्षित-अशिक्षित मे भेद नही मानता। वह सबो के लिए एक-सा है। यदि कोई पूंजीपति भी हत्या का अपराधी है, तो कानून उसे प्राणदण्ड देगा और यदि कोई ग्रेजुएट भी चोरी का अपराधी है तो कानून उसे कैद की सजा देगा। किसी खास राज-

---

१ 'राज्य' की व्याख्या के लिए पहला अध्याय देखिए।

राजनीतिक अधिकार

नागरिक-स्वाधीनता के अलावा नागरिको के लिए राजनीतिक अधिकार भी आवश्यक है। राजनीतिक अधिकारो और नागरिक-अधिकारो मे कोई मौलिक अन्तर नही है क्योकि दोनो की उत्पत्ति इसी सिद्धान्त के आधार पर हुई है कि राज्य नागरिको को अपना जीवन सुखी बनाने के लिए समान सुविधाएँ प्रदान करे। राजनीतिक अधिकार मुख्यत तीन प्रकार के है—

(१) मताधिकार (२) प्रतिनिधित्व का अधिकार (३) पदाधिकार

(१) मताधिकार

प्रजातन्त्र राज्य मे प्रतिनिधि-सस्थाओ का सबसे अधिक महत्त्व है एक प्रकार से प्रतिनिधि-सस्थाएँ ही प्रजातन्त्र का आधार है। इन सस्थाओ का निर्वाचन होता है। इन निर्वाचनो के लिए जो निर्वाचक होते है, उनकी योग्यताएँ कानून द्वारा निर्धारित होती है। जो निर्वाचक की योग्यता रखते है, उन्ही को मताधिकार प्राप्त होता है। जिन देशो मे प्रजातन्त्र का अधिक विकास हो चुका है, उनमे प्रत्येक वयस्क स्त्री-पुरुष को मताधिकार प्राप्त है। केवल नाबालिग और उन्मत्त व्यक्ति ही मताधिकार से वचित रखे जाते है, क्योकि वे अपने अधिकार का समुचित प्रयोग नही कर सकते।

भारतवर्ष मे प्रान्तीय एव केन्द्रीय व्यवस्थापक सभाओ के लिए कुल ३½ करोड स्त्री-पुरुष मतदाता है। इस समय भारत की कुल जनसख्या लगभग ४० करोड है। इस प्रकार ३६½ करोड जनता को यह महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् राजनीतिक अधिकार प्राप्त नही है। भारत मे मताधिकार सम्पत्ति और शिक्षा के आधार पर है। यही कारण है कि मतदाताओ की सख्या इतनी कम है।

(२) प्रतिनिधित्व का अधिकार

प्रत्येक निर्वाचक, जिसकी आयु २५ और ३० वर्ष से अधिक हो

: ६ :

नागरिकों के कर्त्तव्य

अधिकार और कर्त्तव्य

पिछले अध्याय मे नागरिको के अधिकारो के सबध मे हम विचार कर चुके है। परन्तु अधिकारो के साथ कर्त्तव्यो का भी घनिष्ठ सबध है, क्योकि बिना कर्त्तव्य-पालन के अधिकारो का उपभोग सभव और समुचित नही है।

प्रत्येक राज या राष्ट्र मे नागरिक को भाषण-स्वाधीनता का अधिकार होता है। वह देश के कानून के अनुसार मर्यादा का पालन करते हुए अपनी इच्छानुसार विचार प्रकट करने मे स्वतंत्र है। परन्तु उसके इस अधिकार के उपभोग के लिए यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि और दूसरे नागरिक उसकी विचार-स्वाधीनता मे बाधा न डाले। उनपर किसी बाधा को उपस्थित न होने देने का उत्तरदायित्व ही उस नागरिक के लिए विचार-स्वाधीनता तथा भाषण-स्वाधीनता के अधिकार को जन्म देता है। यदि एक नागरिक एक सभा में या किसी जन-समुदाय मे या अपने ग्राम की पचायत के सदस्यो के बीच अपने विचार प्रकट करने का प्रयत्न करे और उसी समय दूसरे नागरिक उसके इस अधिकार के उपभोग मे बाधा पहुँचाने के लिए किसी प्रकार से शान्तिभग करदे तो वह नागरिक अपने अधिकार का कभी उपभोग नही कर सकेगा।

इससे यह सिद्ध है कि जब किसी नागरिक को नागरिकता का कोई अधिकार प्राप्त होता है, तो यह अधिकार ही दूसरो के लिए कर्त्तव्य बन जाता है। दूसरो का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उसके प्रयोग मे किसी तरह की बाधा उत्पन्न न करे।

इस प्रश्न पर एक दूसरे पहलू से भी विचार किया जा सकता है। यदि समाज के सभी सदस्य केवल अधिकारो पर तो जोर दे पर अपने कर्त्तव्यो की उपेक्षा करे, तो इसका परिणाम होगा उनके अधिकार-प्रयोग

(२) यज्ञ करना तथा कराना—अर्थात् समाज के कल्याण के लिए उत्तम और शुभ कर्म करना ।

(३) दान देना—अर्थात् ब्राह्मण ने अपनी साधना तथा तपस्या से जो ज्ञान सचय किया है, उसे जनता को देना । विद्या-दान सर्वोत्तम दान माना गया है ।

इन कर्त्तव्यो के साथ-साथ ब्राह्मण को यह अधिकार प्राप्त था कि वह दान स्वीकार करे । जनता उसकी सेवाओ के पुरस्कार मे अपने श्रद्धा के अनुसार ब्राह्मण को दान-दक्षिणा दे, उसकी भेट-पूजा करे, उसका आदर-आतिथ्य करे । ब्राह्मण अपने इन सर्वश्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्यो के पालन करने पर ही इनसे सम्बन्धित अधिकारो के भोग का अधिकारी बन सकता था । परन्तु जब ब्राह्मणो ने अपने इन कर्त्तव्यो की उपेक्षा करके सिर्फ दान-दक्षिणा ग्रहण करने पर ही जोर दिया, तब समाज का पतन हो गया । आज यह स्थिति है कि एक ब्राह्मण, एक क्षत्रिय या वैश्य अपने अधिकारो के निमित्त तो सदैव सघर्ष करने के लिए सन्नद्ध है, परन्तु अपने कर्त्तव्यो के बारे मे वह कुछ भी नही सोचता । इसीलिए तो आज समाज मे न नागरिको को अपने अधिकारो का उपभोग करने की स्वाधीनता है और न समाज मे सगठन तथा सामजस्य है ।

कर्त्तव्यों के प्रकार

कर्त्तव्य अनेक प्रकार के है । उनका वर्गीकरण भी कई प्रकार से किया जा सकता है । हम यहाँ कर्त्तव्यो को पाँच भागो मे विभक्त करते है—

(१) अपने प्रति कर्त्तव्य,
(२) अपने परिवार के प्रति कर्त्तव्य,
(३) नागरिको के प्रति कर्त्तव्य,
(४) समाज के प्रति कर्त्तव्य,
(५) राज्य के प्रति कर्त्तव्य ।

(१) अपने प्रति कर्त्तव्य

प्रत्येक नागरिक का सबसे पहले अपने प्रति कर्त्तव्य है । यह वाक्य

का पालन करे। हिन्दू-शास्त्रो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति जन्म लेते ही जो तीन प्रकार के ऋणो—पितृ-ऋण, देव-ऋण और ऋषि-ऋण को अपने ऊपर ले लेता है उनमे इस प्रकार उसे पितृ-ऋण चुकाने के लिए प्रयत्न करना पडता है।

पति और पत्नी परिवार के प्रमुख सदस्य है। पति के पत्नी के प्रति कुछ विशेष कर्त्तव्य है और पत्नी के भी पति के प्रति विशेष कर्त्तव्य है। पति को पत्नी के भरण-पोषण का भार वहन करना पडता है। पत्नी के प्रति उसे वैवाहिक कर्त्तव्यो को भी पूरा करना पडता है। पति का कर्त्तव्य है कि वह पत्नी के प्रति सच्चाई तथा प्रेम का व्यवहार करे और पत्नीव्रत का पालन करे। इसी प्रकार पत्नी को भी पति के प्रति भक्तिभाव रखकर पातिव्रत का पालन करना चाहिए। पत्नी गृह की स्वामिनी है और उसका कर्त्तव्य है कि वह घर की सब बातो की ठीक प्रकार व्यवस्था करे तथा सन्तान का यथोचित पोषण करे और उसे शिक्षा दे। पति-पत्नी का आपसी व्यवहार मैत्री के आधार पर होना चाहिए—अर्थात् पति पत्नी को दासी न समझे प्रत्युत उसे वास्तव मे जीवन-सगिनी समझे।

माता-पिता के सन्तान के प्रति कुछ विशेष कर्त्तव्य है। उनका कर्त्तव्य है कि वे अपनी सन्तान का पालन-पोषण करे और उन्हे शिक्षित बनावे। इसी प्रकार भाइयो व बहनो तथा अन्य सम्बन्धियो के साथ भी प्रत्येक व्यक्ति को यथोचित प्रेम-पूर्वक सद्व्यवहार करना चाहिए।

हिन्दू-विधान मे आचार्य की बडी पूजा की जाती है। आचार्य को एक प्रकार से बालक का आध्यात्मिक पिता ही कहा जाता है। आचार्य अर्थात् शिक्षको व अध्यापकों के प्रति विद्यार्थियो को यथोचित व्यवहार करना चाहिए।

(३) नागरिको के प्रति कर्त्तव्य

अपने या अपने परिवार के सदस्यो के प्रति नागरिक के जो कर्त्तव्य है उनका पालन करने मात्र से ही नागरिक के कर्त्तव्यो की सम्पर् ...

और उपद्रव बडी आसानी से शान्त किये जा सकते है। सहनशीलता वास्तव मे मानवता का एक अमूल्य रत्न है। इसके अभाव मे मानवीय सद्गुणो का विकास होना सम्भव नही और न इनसे समाज का सगठन ही कायम रह सकता है। नागरिक का यह भी कर्त्तव्य है कि वह दूसरे नागरिको के जीवन तथा सम्पत्ति का भी वैसा ही आदर करे जैसा कि अपने जीवन व सम्पत्ति का करता है।

राज्य ने प्रत्येक नागरिक को आत्म-रक्षा (Self defence) का अधिकार दिया है। परन्तु उस अधिकार के साथ यह कर्त्तव्य लगा हुआ है कि वह दूसरे के जीवन व सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा भी करे। जनता की जो सार्वजनिक सम्पत्ति हो—जैसे बाग, पार्क, तालाब, कूप पाठशाला, धर्मशाला—उसकी रक्षा करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। जीवन मे इस महत्त्वपूर्ण मौलिक सिद्धान्त का सदा, सर्वथा, सर्वत्र पालन होना आवश्यक है कि प्रत्येक नागरिक को दूसरे नागरिको के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसे व्यवहार की वह अपने प्रति उनसे आशा रखता है। इस नियम पर चलने से समाज के व्यक्तियो मे कभी किसी विषय पर सघर्ष नही हो सकता और जीवन के सब काम बडी सफलता से चलते रह सकते है।

(४) समाज के प्रति कर्त्तव्य

हमने नागरिको के कर्त्तव्यो के सबन्ध मे ऊपर जो निवेदन किया है, वह केवल व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक नागरिक के ही लिए है। नागरिक के कुछ कर्त्तव्य ऐसे भी है जिन्हे वह दूसरो के सहयोग से पूरा कर सकता है। ऐसे कर्त्तव्य समाजगत होते है। इनके पालन से समूचे समाज का कल्याण होता है। प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह दूसरे नागरिको के साथ सहयोग-पूर्वक समाज के सगठन मे भाग ले। समाज के उत्कर्ष के लिए उसे राज्य की ओर से कई प्रकार के सगठन निर्माण करने का अधिकार प्राप्त है। इस अधिकार का प्रयोग वह समाज की सामाजिक, सास्कृतिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, व्यावसायिक, व्यापारिक,

[illegible]-नागरिकता का भी [illegible]। [illegible]
अंग्रेजी में Immunities कहते हैं और [illegible]
पर भी नागरिकों को मत देने का अधिकार प्राप्त है। [illegible]
अमरीका में नागरिकों को ये दोनों अधिकार प्राप्त हैं।

राज्य के कानूनों का पालन

नागरिकों का यह कर्तव्य है कि वे राज्य के [illegible]
दूसरे कानूनों का पालन करें। प्रजातन्त्र-राज्य में कानून जनता द्वारा पास होता है और धारासभाओं में भी प्रत्येक कानून बहुमत की राय से बनाया जाता है। इसलिए समस्त देश उस कानून से बाध्य हो जाता है। जब कानून बन चुकता है तब समस्त जनता का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उसका सद्भावना के साथ पालन करे।

अब प्रश्न यह है कि यदि धारासभाओं और सरकार द्वारा कोई ऐसा कानूनबनाया गया है जो समाज के लिए या उसके किसी अंग के लिए घातक है, तो क्या उस कानून के विरोधियों का यह कर्तव्य है कि वे कानून की अवज्ञा करें? इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक प्रजातन्त्र राज्य में नागरिकों को यह अधिकार है कि वे किसी भी कानून तथा सरकार के कार्य की आलोचना कर सकते हैं और उसके प्रति विरोध-प्रदर्शन भी कर सकते हैं। इस प्रकार के विरोध-प्रदर्शन वैध (न्यायोचित) माने जाते हैं। इन प्रदर्शनों का उद्देश्य है लोकमत द्वारा सरकार को यह बताना कि उसने जो कानून बनाया है वह समाज या किसी विशेष वर्ग के लिए घातक है जिससे सरकार उसमें संशोधन का प्रयत्न कर सके।

परन्तु कानून की अवज्ञा करना तो देश के विधान के अनुसार अपराध है। संसार के किसी भी सभ्य राज्य के विधान ने नागरिकों को यह अधिकार नहीं दिया है। सोवियत प्रजातन्त्र-संघ के शासन-विधान में भी संघ नागरिक-संघ के विधान और उसके कानूनों को मानने, श्रम के अनुशासन को कायम रखने, सार्वजनिक कर्त्तव्य का आदर करने और समाजवादी सभा (सोसाइटी) के नियमों का पालन

[illegible] सकते हैं। अतः नागरिकों का यह कर्तव्य है कि [illegible] तथा राजद्रोह, षड्यन्त्र, हत्या, [illegible] चोरी, [illegible] तथा अन्य अपराध आदि अपराधियों को पकड़ने में [illegible] सहायता दें।

राज्य-कोष में कर तथा लगान आदि देना

राज्य के शासन का संचालन प्रजा द्वारा दिये गये कर, लगान आदि के रूप में आये हुए धन से ही होता है। यदि राज्य को प्रजा द्वारा कर आदि के द्वारा पर्याप्त कोष प्राप्त नहीं होता तो वह लोकोपयोगी कार्यों को ठीक प्रकार से करने में असमर्थ रहता है। इसलिए नागरिकों का कर्तव्य है कि वे ठीक समय पर निर्धारित टैक्स, मालगुजारी आदि सरकार को देते रहें। यदि सरकार कोई ऐसा कर लगाती है जो प्रजा पर भार है अथवा जो उचित नहीं है तो प्रजा का यह कर्तव्य है कि वह उसका विरोध करे।

स्वदेश-रक्षा

प्रत्येक देश के नागरिकों का यह कर्तव्य है कि वे बाह्य आक्रमणों से स्वदेश की रक्षा के कार्य में अपने देश की सरकार की धन, जन आदि से पूरी सहायता करें। इसीलिए बहुत-से देशों में नागरिक सेनाएँ होती हैं। सोवियट राज्य में अनिवार्य सैनिक सेवा का नियम है। इसी प्रकार युद्ध-काल में प्रत्येक विग्रही राष्ट्र में अनिवार्य सैनिक सेवा का नियम प्रचलित हो जाता है। इस सम्बन्ध में मतभेद पाया जाता है। कुछ विद्वानों का यह मत है कि अनिवार्य सैनिक-सेवा का नियम नैतिकता और नागरिक स्वाधीनता की भावना के विरुद्ध है। प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है और

उनसे जबरदस्ती फौज में सैनिक का काम कराना उचित नहीं।

दूसरा मत यह है कि देश की स्वाधीनता की रक्षा के लिए प्रत्येक नागरिक को सैनिक सेवा करनी चाहिए। ऐसा करना उसका कर्तव्य ही नहीं धर्म भी है। यदि अनिवार्य सेवा का नियम न रखा जाये तो नागरिक रक्षा के कार्य में सक्रिय भाग न लेना न हो

इस सम्बन्ध में हमारा मत यह है कि नागरिकों में देशभक्ति की भावना इतनी प्रबल होनी चाहिए कि वे स्वदेश के लिए सदैव प्राणोत्सर्ग करने को तत्पर रहें। ऐसी दशा में वे स्वयं-सेवक सेना तैयार करने का प्रयत्न स्वयं ही करेंगे।

कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय

व्यक्तिगत जीवन और सार्वजनिक जीवन में ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब नागरिकों को यह निर्णय करना बडा कठिन जान पडता है कि क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य है? ऐसे अवसरों पर उन्हें क्या करना चाहिए—यह एक बडा विचारणीय प्रश्न है।

जब कभी इस प्रकार की समस्या उपस्थित हो जाये तब उन्हें यह विचार करना चाहिए कि जिस कार्य के करने से अधिक हित-साधन हो, समाज का लाभ हो, वही करना उचित है। इसमें तनिक भी सन्देह नही कि इस प्रकार के निर्णय में त्याग तथा बलिदान की भावना का प्राधान्य होगा।

श्री भगवानदास केला ने इस सम्बन्ध में लिखा है—

"जिन कार्यों में भेदभाव न रखकर, समता का आदर्श रखा जाता है, जिनमें हम अपनी आत्मा की विशालता का अनुभव करते हैं, जिनमें स्वार्थ-परार्थ का प्रश्न नहीं उठता वे ही कर्त्तव्य है। इसके विपरीत जिन कार्यों से भेदभाव की उत्पत्ति होती है, अपने पराये का विचार होता है, अपना सुख-दुःख मुख्य समझा जाता है, जिनमें आत्मा के विस्तार की भावना न रख कर, उसे परिवार या नगर आदि के सीमित क्षेत्र में परिमित रखा जाता है, वे अकर्त्तव्य है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि

हमारा अपने परिवार या नगर आदि के प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं है। नहीं नहीं जैसा कि अन्यत्र बताया गया है, हमारा कर्त्तव्य तो स्वयं अपने प्रति भी है। हां हमें दूसरो के हित को न भूलना चाहिए।"[1]

श्री केलाजी ने जो सिद्धान्त उपर्युक्त अवतरण मे स्थिर किया है, वह वास्तव में नागरिक जीवन के लिए एक उच्च मानवीय आदर्श है। इस सिद्धान्त के समुज्वल प्रकाश में नागरिकगण कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्णय बडी आसानी के साथ कर सकेंगे।

---

१ श्री भगवानदास केला 'नागरिक-शास्त्र (१९३२) पृ० ३१४

प्रजातन्त्र भारत के लिए नयी वस्तु नहीं है। यद्यपि प्राचीन भारत में आधुनिक ढग की प्रजातन्त्र-प्रणाली का विकास नही हुआ था, तो भी यह प्रमाणित हो चुका है कि वैदिक राजा या हिन्दू नरेश स्वेच्छाचारी शासक नही होता था। प्राचीन काल मे राजा का प्रजा की राज्य-समिति द्वारा चुनाव होता था।[1] राजा को मन्त्रि-परिषद् की सम्मति से शासन सचालन करना पडता था। मन्त्रि-परिषद् के बहुमत का राजा आदर करता था।[2] राजा के कर्त्तव्यो का विधान धर्म-शास्त्रो मे प्रतिपादित होता था और उसके अनुसार ही उसे कार्य करना पडता था। प्रजा राजा की केवल धर्मयुक्त आज्ञाओ को ही मानने के लिए बाध्य थी।[3] प्रजा को राजा के चुनने का अधिकार था परन्तु वह उसे अधिकार-च्युत भी कर सकती थी। राजा को प्रजा की सम्मति से कर वसूल करने का अधिकार था और वह पुलिस, सेना, सिविल सर्विस तथा राज्य के अन्य कार्यों का सचालन जाति-सघ, परिषदो या पंचायतो द्वारा करता था। उस समय आज जैसी वैधानिक परम्परा, पार्लिमेंट्री प्रणाली और उत्तरदायी शासन नही था। परन्तु ऐसे प्रमाण मौजूद हैं जिनसे यह सिद्ध है कि प्राचीन काल में भारत मे प्रजातन्त्र सस्थाएँ मौजूद थी और सघ-शासन-प्रणाली का भी विकास हो चुका था।[4]

प्रजातन्त्र के प्रकार

आधुनिक काल में प्रजातन्त्र के दो प्रकार हैं। एक प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र और दूसरा परोक्ष प्रजातन्त्र। प्राचीन यूनान और रोम मे राज्य छोटे

---

१ 'अथर्व वेद' हर्वर्ड ओरियण्टल सीरीज।

२. आत्ययिके कार्ये मन्त्रिणो मन्त्रिपरिषद चाहूय ब्रूयात्। ६३
तत्र यद्भूयिष्ठाः कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत्कुर्यात्। ६४
—कौटल्य अर्थशास्त्र · अधिकरण १; अ०

३. 'हिन्दू राजनीति' स्व० काशीप्रसाद जायसवाल।

४ उपर्युक्त

दी है। उन्हे मस्तिष्क और हृदय भी दिया है। वे अपनी मानसिक एव शारीरिक शक्तियो के विकास से अपने जीवन को सुखी बना सकते है। यह तो स्वयसिद्ध है कि मनुष्य अपनी समस्त शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियो का सामजस्यपूर्ण विकास केवल स्वाधीन दशा मे ही कर सकता है। यदि वे बधन मे रहे, तो उनका विकास स्वाभाविक ढग से न हो सकेगा। यह भी स्वयसिद्ध है कि मानव-जीवन का लक्ष्य शाति और आनद की प्राप्ति है। अत राज्य और समाज को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए, जिसमें रहकर समस्त मानव अपने इस परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ कर सके। जिस समाज मे कानून की व्यवस्था एव नियन्त्रण की सत्ता कुछ लोगो के हाथ मे होगी, उसमे शेष जनता आनन्द-प्राप्ति के प्रयास मे सफलता प्राप्त नही कर सकती। अत इसका निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने समाज, राष्ट्र या राज्य की नीतियो के निर्माण मे योग देना आवश्यक है, क्योकि जबतक सभी मनुष्यो को अपनी आकाक्षाओ की अभिव्यक्ति का सुयोग नहीं मिलेगा, तबतक समाज या राज्य यह निर्णय नही कर सकेगा कि समाज या राज्य के लिए कौनसे नियम हितकारी है अथवा किन नियमो के पालन न करने से समाज की हानि है? बस, प्रजातन्त्र का यही आधार है।[1]

अमरीका की स्वाधीनता की घोषणा मे जो सन् १७७६ ई० मे की गयी थी यह घोषित किया गया था—

"हम इन सत्यो को स्वयं-सिद्ध मानते है कि सब मनुष्य समान पैदा किये गये है। सृष्टिकर्त्ता ने उन्हे कुछ जन्म-सिद्ध अधिकार प्रदान किये है। इन अधिकारो में जीवन-स्वाधीनता और आनन्द-प्राप्ति के अधिकार शामिल है। इन अधिकारो की सुरक्षा के लिए सरकारो की स्थापना की गयी है। इन सरकारो को जो सत्ता प्राप्त है उसका आदि-स्रोत जनता ही है।"

---

१ 'प्रजातन्त्र के मौलिक तत्त्व': रामनारायण 'यादवेन्दु' 'विश्वमित्र' मासिक, अगस्त १९४०

राज्य को अपने समस्त नागरिको की सुख-सुविधा के लिए समान अवसर व सुयोग देने चाहिएँ। समानता, के कई प्रकार है—राजनीतिक समानता, सामाजिक समानता, आर्थिक समानता आदि। राजनीतिक समानता से प्रयोजन यह है कि राज्य के समस्त नागरिको को, जो योग्य हो, देश के शासन-सचालन मे भाग लेने का समान अधिकार हो। शासन-सचालन किसी वर्ग-विशेष का एकाधिकार नही होना चाहिए। इसीलिए मताधिकार नागरिको को प्राप्त है। वह इसी के द्वारा शासन मे भाग लेने के अधिकारी है। परन्तु राजनीतिक समानता की सफलता के लिए सामाजिक समानता भी जरूरी है। जबतक समाज मे प्रत्येक नागरिक को समान न माना जायेगा, तबतक उसका कोई राजनीतिक महत्त्व नही। इसी का एक फलितार्थ है—आर्थिक समता या आर्थिक न्याय। समाज मे सब वर्गों के सुख के लिए आर्थिक समता जरूरी है। यदि पाश्चात्य देशो मे प्रजातन्त्र-प्रणाली विफल सिद्ध हुई है तो उसका एक मात्र कारण यही है कि प्रजातन्त्र-प्रणाली ने पूंजीवाद के साथ गठ-बन्धन करके समाज मे विषमता को जन्म दिया।

समाज मे सच्ची बन्धुत्व की भावना उसी समय उत्पन्न हो सकती है जबकि उसमे नागरिक-स्वाधीनता और समानता का सिद्धान्त पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गया हो और नागरिको ने अपने दैनिक जीवन मे उनके अनुसार आचरण करने का प्रयत्न किया हो।

प्रजातन्त्र के उपर्युक्त तीन तत्त्वो के अतिरिक्त राज्य के नागरिको मे सार्वजनिक शिक्षा की भी व्यवस्था हो। जबतक नागरिक सार्वजनिक प्रश्नो मे दिलचस्पी न लेगे तबतक प्रजातन्त्र का सफल होना सभव नही। इसके लिए नागरिक-शिक्षा के प्रसार की जरूरत है। जनता में उच्च सार्वजनिक जीवन के प्रति आकर्षण पैदा किया जाये। चरित्रवान् लोग सार्वजनिक कार्यो का सपादन करे। प्रत्येक नागरिक को स्वतन्त्र रूप से सोचने का अभ्यास डाला जाये तथा उसका दृष्टिकोण गतिशील बनाया जाये। लोकमत भी प्रगतिशील एव शिक्षित होना चाहिए। मतलब यह है कि समस्त सामाजिक जीवन का पुनस्सगठन प्रजातन्त्र के आधार पर

(८) प्रजातन्त्र मे जनता को नागरिक-शिक्षा प्राप्त करने का सुयोग मिलता है। वह सार्वजनिक प्रश्नो के सबध मे दिलचस्पी लेती है। उसमे सार्वजनिक हित के प्रश्न पर अपना स्वतन्त्र मत प्रकट करने की क्षमता होती है।

प्रजातन्त्र-शासन के दोष

प्रजातन्त्र-शासन मे जहाँ इतने गुण है वहाँ उसमे—उसकी प्रणाली मे कुछ दोष भी है जिनमे से निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय है—

(१) प्रजातन्त्र की शासन-सस्थाएँ मन्द गति से ही अपना कार्य-सचालन कर सकती है। किसी प्रश्न पर, आवश्यकता के समय, शीघ्रता से निर्णय करने की सुविधा कम होती है।

(२) लोकमत की प्रगतिशीलता के कारण जनता के विचारो मे परिवर्तन होता रहता है। किसी भी सार्वजनिक प्रश्न पर मन्त्रि-मण्डल मे अथवा पार्लिमेंट मे मतभेद होजाने मे सरकारे त्यागपत्र दे देती है। फिर नये चुनाव होते है। इस प्रकार शासन-कार्य मे अव्यवस्था बहुत होती रहती है।

(३) प्रजातन्त्र-प्रणाली मे बहुमत जब अल्पमत के विचारो का आदर नही करता तब अल्पमत अनेक प्रकार के विवाद तथा उपद्रव पैदा करता है। यह विवाद और सघर्ष पार्लिमेंट या धारासभा के सदस्यो तक ही समिति नही रहता प्रत्युत अल्पमत जनता पर भी अपना प्रभाव डालता है और जनता में उपद्रव और विद्रोह खडे हो जाते है।

(४) प्रजातन्त्र में जनता मे नवीन आदर्शों, नवीन भावनाओ तथा नयी विचारधाराओ के कारण नवीनता के प्रति विशेष आकर्षण हो जाता है। इस प्रकार जनता में प्राचीन सस्थाओ को नष्ट करने और उनकी जगह नयी सस्थाएँ खडी करने का एक रिवाज-सा चल पडता है।

(५) प्रजातन्त्र मे प्रचार या प्रोपेगेंडा एक महान् शक्ति है। प्रत्येक

(अक्टूबर, १९३७) में अपना लक्ष्य 'पूर्ण स्वाधीनता' को पाना मंजूर किया तब उसके अध्यक्ष श्री मुहम्मदअली जिन्ना ने बड़े ओजस्वी शब्दों में लीग के ध्येय की घोषणा करते हुए कहा—"मुस्लिम लीग भारत के लिए पूर्ण राष्ट्रीय प्रजातन्त्रात्मक स्वराज्य चाहती है।' सिक्ख, भारतीय ईसाई, दलितवर्ग, लिबरलदल, हिन्दू महासभा आदि सभी दल प्रजातन्त्र के आदर्श में विश्वास करते हैं।

पाकिस्तान

विगत लाहौर अधिवेशन (मार्च, १९४०) से मुसलिम लीग ने एक प्रस्ताव स्वीकार करके यह कुप्रचार करना शुरू कर दिया है कि भारत में दो राष्ट्र है—हिन्दू और मुसलमान। इसलिए भारत मे प्रजातन्त्र-प्रणाली उपयुक्त नही है। हिन्दू और मुसलमान दोनो के लिए अलग-अलग राज्य होने चाहिएँ। मुसलमानो का राज्य—पाकिस्तान—उत्तर-भारत मे रहे जिसमे सीमा-प्रान्त, बिलोचिस्तान, पंजाब, सिन्ध, बंगाल आदि शामिल हो। शेष भारत मे हिन्दू-राज्य कायम किया जाये। मुसलिम लीग के नेता श्री जिन्ना ने यह पाकिस्तान की नयी योजना तैयार की है। परन्तु इस योजना को भारत के समस्त मुसलमानो ने तो क्या उनके बहुमत ने भी स्वीकार नही किया। कांग्रेस, हिन्दू महासभा, सिक्ख, ईसाई तथा लिबरल सभी इस योजना का घोर विरोध कर रहे हैं। इस प्रकार भारत मे पाकिस्तान की स्थापना राष्ट्र के लिए खतरनाक है। और इसकी स्थापना का स्वप्न भी पूरा नही हो सकता।

नहीं मिलता। धार्मिक ग्रन्थों में इस धर्म का नाम 'आर्य धर्म' लिखा है।

उत्तर भारत प्राचीन समय में 'आर्यावर्त' के नाम से प्रसिद्ध था और उसके निवासियों को 'आर्य' कहा जाता था। 'आर्य' का अर्थ है श्रेष्ठ, उत्तम, मान्य पुरुष।

चारों वेद (ऋग्, यजु, साम, अथर्व) संसार के सबसे प्राचीन ग्रंथ हैं और वैदिक धर्म संसार का आदि-धर्म है। जब ब्रह्मा ने सृष्टि उत्पन्न की तो सबसे पहले उन्होंने चार ऋषियों को ज्ञान दिया। यही ईश्वरीय ज्ञान 'वेद' है जो उन ऋषियों के द्वारा मानव-समाज के लिए सुलभ हो सका।

उपनिषद् वेदों की व्याख्याएँ हैं जो बाद में ऋषियों ने कीं। इसी प्रकार दर्शनशास्त्र भी मुनियों द्वारा प्रणीत हैं। स्मृतियों में धर्म के नियम हैं। वे एक प्रकार से कानून-संग्रह हैं। सबसे प्राचीन स्मृति मानवधर्म-संग्रह है। यह 'मनुस्मृति' के नाम से भी प्रसिद्ध है।

वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, शास्त्र, और मनुस्मृति सब संस्कृत भाषा में हैं। योगदर्शन के अनुसार वैदिक धर्मानुयायी को निम्न लिखित दस नियमों का पालन करना चाहिए। ये यम नियम इस प्रकार हैं —

(१) अहिंसा—मन, वचन और कर्म से प्राणी-मात्र से प्रेम करना तथा किसी भी प्राणी को हानि न पहुँचाना।

(२) सत्य—मन, वचन कर्म से सत्य का पालन करना।

(३) अस्तेय—मन, वचन, कर्म से चोरी का त्याग।

(४) ब्रह्मचर्य्य—वीर्य-रक्षा करते और संयमपूर्ण जीवन बिताते हुए, ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करके ब्रह्म-प्राप्ति की साधना करना।

(५) अपरिग्रह—आवश्यकता से अधिक का संग्रह न करना तथा स्वाभिमान-रहित रहना।

(६) शौच—जलादि से शरीर तथा वस्त्रों की शुद्धि, पवित्र विचारों से मन की शुद्धि तथा ब्रह्म-ज्ञान से आत्मा की शुद्धि करना।

(७) सन्तोष—पुरुषार्थ करना तथा हानि-लाभ में शोक न करना।

(८) तप—कष्ट सहन करते हुए भी धर्मसम्मत कार्यों का अनुष्ठान करना।
(९) स्वाध्याय—स्वयं पढ़ना तथा दूसरों को पढ़ाना।
(१०) ईश्वर-प्रणिधान—ईश्वर की भक्ति में आत्म-समर्पण।

इस प्रकार संक्षेप में, सूत्ररूप में योगदर्शन-कार ने धर्म के दस नियम बतलाये हैं। इनके अनुसार आचरण करके मनुष्य न केवल लौकिक सुख ही प्राप्त कर सकता है, प्रत्युत मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है।

वैदिक धर्म के मौलिक सिद्धान्त इस प्रकार हैं :

(१) एकेश्वरवाद—इस विश्व और ब्रह्माण्ड का कर्ता केवल एक ईश्वर है। वह सर्वशक्तिमान्, निर्विकार, अजन्मा, अनादि, सर्वव्यापक और सर्वज्ञ आदि है।
(२) जीव चेतन है और अनन्त है। वह अमर है, अजन्मा है और अनादि है। जीव में इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न होता है। जीव जैसे कर्म करता है, वैसा ही उसे फल मिलता है। जब जीव श्रेष्ठ कर्म करता है और उसे मोक्ष मिल जाता है तब वह १५ खरब, ५५ अरब, २० करोड़ वर्ष बाद पुनः शरीर धारण करता है।
(३) जीव एक शरीर का त्याग करके दूसरी योनि में जाता है। इस प्रकार पुनर्जन्म में विश्वास वैदिक सिद्धान्त है।
(४) यह सृष्टि-रचना प्रकृति और जीव से हुई है। प्रकृति जड़ है। उसमें चेतनता का अभाव है। प्रकृति का कभी नाश नहीं होता। इसलिए वह अनादि है, अनन्त है।
(५) वैदिक धर्म के अनुसार मानव-जीवन चार आश्रमों में विभाजित है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास।
(६) इसी प्रकार मानव समाज गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर चार वर्णों में विभाजित है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।
(७) वैदिक धर्म मूर्तिपूजा और अवतारवाद में विश्वास नहीं करता।
(८) वैदिक धर्म [illegible] और अस्पृश्यता को भी स्थान नहीं देता।

[illegible] में वैदिक धर्म के इस स्वरूप [illegible]

बुद्ध को भगवान् मानते हैं और उन्हें सर्वज्ञ एवं अमर मानकर उनकी पूजा करते हैं।

बुद्ध हिन्दुत्व के पुजारी थे। वह वास्तव में हिन्दू-समाज के एक महान् क्रान्तिकारी सुधारक थे। उनके महान् कार्य की विशेषता यह है कि उन्होंने उपनिषदों के सिद्धान्तों और वेद के उपदेशों को व्यावहारिक जीवन में ओतप्रोत कर उनकी सत्यता सिद्ध की। बुद्ध ने ईश्वर और आत्मा के सबंध पर भी उतना अधिक जोर नहीं दिया जितना लोक-कल्याण और सेवा-धर्म पर। उन्होंने भारत में प्रचलित जाति-प्रथा की निस्सारता को सिद्ध करके मानव-बन्धुत्व की स्थापना की। उन्होंने स्त्रियों की स्थिति में भी सुधार किया। वास्तव में बुद्ध विश्व-प्रेम के मानवीय उच्चादर्श को जीवन में चरितार्थ करनेवाले मानवता के महान् पुजारी थे। परन्तु आज बौद्धमतानुयायी बुद्ध के आदर्शों व सिद्धान्तों के सर्वथा विपरीत आचरण कर रहे हैं।

सिक्ख मत

सिक्ख मत नवीन मत है। यह हिन्दू-समाज में सुधार करने के लिए एक ऐसे युग में प्रचलित हुआ था जबकि हिन्दुत्व पतन की चरम सीमा को पहुँच चुका था। जब हिन्दुत्व पर विजातीय शासकों द्वारा आक्रमण हो रहा था, तब गुरु नानक (सं० १४६९-१५३८) ने सिक्ख मत की स्थापना की थी। गुरु नानक ने देश में भ्रमण कर लोगों को यह सन्देश दिया कि सबको ईश्वर की सत्ता में विश्वास करना चाहिए। कहा जाता है कि हिन्दुओं के अतिरिक्त मुसलमान भी नानक के भक्त बन गये। गुरु नानक का जातपात और अस्पृश्यता में विश्वास नहीं था। सब मनुष्य समान हैं—यही उनका मूल सिद्धान्त था। सिक्खों का धर्म-ग्रन्थ 'आदि-ग्रन्थ' है। सिक्खमतानुसार ईश्वर एक और सर्वव्यापक है, वह अभय, अमर, अजन्म, स्वयम्भू, महान् और स्वरूप है। वह सत्य था सत्य है और सदैव सत्य रहेगा। उसके सिवा दूसरा कोई नहीं। अनेक गुणों के कारण ईश्वर के अनेक नाम हैं, पर उसका मुख्य नाम

की जनगणना के अनुसार भारत मे १२ लाख ५१ हजार १०५ जैन है।

यद्यपि हिन्दू धर्म जैन धर्म से भिन्न है परन्तु इसमे तनिक भी सन्देह नही कि जैन अपने को हिन्दू ही मानते है और हिन्दू भी जैन धर्मावलम्बियो को हिन्दू मानते है। वे गो-पूजा करते है, हिन्दू देव-मन्दिरो मे जाते है, हिन्दू उत्तराधिकार कानून को मानते है, हिन्दू पर्वो और उत्सवो को मानते है और भाषा और सस्कृति की दृष्टि से भी वे हिन्दू ही है।

(३) बौद्ध मत

बौद्ध मत की प्रतिष्ठा ईसा से पूर्व पाँचवी शताब्दी में गौतम बुद्ध ने की थी। महात्मा बुद्ध के मतानुसार जीवन दु खमय है, समस्त दु खो का कारण मोह और तृष्णा है। अत इच्छाओ के दमन द्वारा ही दु खो का परिहार हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए बुद्ध ने निम्नलिखित नियमो के पालन पर जोर दिया है—(१) अहिंसा (२) अस्तेय, (३) ब्रह्मचर्य (४) सत्य (५) ईर्ष्या-त्याग (६) शिष्ट भाषण (७) प्रलोभन-त्याग (८) घृणा-परित्याग (९) अज्ञान-निवारण

बौद्ध मत मे मुक्ति के लिए ईश्वर-भक्ति और ज्ञान की आवश्यकता नही है। उसमे नीति-मार्ग पर अधिक जोर दिया गया है। उनकी दृष्टि मे आत्म-सयम ही मोक्ष का साधन है। बौद्ध मत मे अहिंसा को परम उच्च स्थान प्राप्त है। इस धर्म का प्रसार एशिया मे खूब हुआ। यद्यपि भारत मे तो बौद्ध-मतानुयायियो की सख्या बहुत ही कम है, परन्तु ब्रह्मा, स्याम, तिब्बत, मगोलिया, चीन और जापान मे बौद्ध मत का ही प्रचार अधिक है क्योकि सम्राट अशोक ने बौद्ध मत का अनुयायी बनकर उसके विस्तार के लिए इन देशो मे महान् उद्योग किया था।

बौद्धमत के अन्तर्गत दो बड़े सम्प्रदाय है—हीनयान और महायान। हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी बुद्ध के उपदेशो मे श्रद्धा रखते है, वे बुद्ध को पूर्ण शिक्षक के रूप मे मानते है जिसने दु खो से मुक्ति पाने का मार्ग बतलाया। महायान सम्प्रदाय के अनुयायी

बुद्ध को भगवान् मानते हैं और उन्हें सर्वज्ञ एव अमर मानकर उनकी पूजा करते हैं।

बुद्ध हिन्दुत्व के पुजारी थे। वह वास्तव मे हिन्दू-समाज के एक महान् क्रान्तिकारी सुधारक थे। उनके महान् कार्य की विशेषता यह है कि उन्होने उपनिषदो के सिद्धान्तो और वेद के उपदेशो को व्यावहारिक जीवन मे ओतप्रोत कर उनकी सत्यता सिद्ध की। बुद्ध ने ईश्वर और आत्मा के सबध पर भी उतना अधिक जोर नही दिया जितना लोक-कल्याण और सेवा-धर्म पर। उन्होने भारत मे प्रचलित जाति-प्रथा की निस्सारता को सिद्ध करके मानव-बन्धुत्व की स्थापना की। उन्होने स्त्रियो की स्थिति मे भी सुधार किया। वास्तव मे बुद्ध विश्व-प्रेम के मानवीय उच्चादर्श को जीवन मे चरितार्थ करनेवाले मानवता के महान् पुजारी थे। परन्तु आज बौद्धमतानुयायी बुद्ध के आदर्शो व सिद्धान्तो के सर्वथा विपरीत आचरण कर रहे हैं।

सिक्ख मत

सिक्ख मत नवीन मत है। यह हिन्दू-समाज मे सुधार करने के लिए एक ऐसे युग मे प्रचलित हुआ था जबकि हिन्दुत्व पतन की चरम सीमा को पहुँच चुका था। जब हिन्दुत्व पर विजातीय शासको द्वारा आक्रमण हो रहा था, तब गुरु नानक (स॰ १४६९-१५३८) ने सिक्ख मत की स्थापना की थी। गुरु नानक ने देश मे भ्रमण कर लोगो को यह सन्देश दिया कि सबको ईश्वर की सत्ता मे विश्वास करना चाहिए। कहा जाता है कि हिन्दुओ के अतिरिक्त मुसलमान भी नानक के भक्त बन गये। गुरु नानक का जातपाँत और अस्पृश्यता मे विश्वास नही था। सब मनुष्य समान है—यही उनका मूल सिद्धान्त था। सिक्खो का धर्म-ग्रन्थ 'आदि-ग्रन्थ' है। सिक्खमतानुसार ईश्वर एक और सर्वव्यापक है, वह अभय, अमर, अजन्म, स्वयम्भू, महान् और दयालु है। वह सत्य था सत्य है और सदैव सत्य रहेगा। उसके सिवा दूसरा कोई नही। अनेक गुणो के कारण ईश्वर के अनेक नाम है, पर उसका मुख्य नाम

गहाँ, लोगों ने देवियों की भी कल्पना की—जैसे सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती आदि। ब्रह्मा की देवी सरस्वती, विष्णु की देवी लक्ष्मी और शिव की देवी पार्वती या दुर्गा मानी गयी। इन तीनों देवियों को आदिशक्ति माना गया है और इनके उपासक शाक्त कहलाते हैं। इनके अलावा हिन्दू-समाज मे कबीर-पंथ, दादू-पंथ, गोसाई सम्प्रदाय, माधव और नारायण सम्प्रदाय और वाममार्ग आदि अनेक पंथ और सम्प्रदाय प्रच-लित हैं जो किसी संत अथवा आचार्य के नाम पर कायम हुए हैं।

आर्यसमाज

उन्नीसवीं सदी मे जब भारत मे वैदिक धर्म के प्रति हिन्दुओं की श्रद्धा नष्ट हो रही थी, धार्मिक क्षेत्र मे पाखण्ड और दम्भ का जोर बढ रहा था और समाज नैतिक पतन की ओर तेजी से अग्रसर हो रहा था, तब धार्मिक हिन्दू जाति के अन्धविश्वास और अज्ञान को दूर करने के लिए स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की। उन्होंने समस्त भारत में भ्रमण करके वैदिक-धर्म-विरोधी मत-मतान्तरों का खण्डन किया और वैदिक धर्म के सच्चे स्वरूप को जनता के सामने प्रस्तुत किया। स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज के १ नियम निर्धारित किये जो इस प्रकार हैं—

(१) सब सत्य विद्या का और उससे समझे जानेवाले सब पदार्थों का आदिमूल परमात्मा है।

(२) ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना करना उचित है।

(३) वेद सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढना-पढाना, सुनना-सुनाना आर्यों का परम धर्म है।

(४) सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने को सदा उद्यत रहना चाहिए।

(५) सब काम धर्मानुसार सत्य और असत्य का विचार करके करना चाहिए।

(६) संसार का उपकार अर्थात् आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है।
(७) सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य आचरण करना चाहिए।
(८) अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।
(९) प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।
(१०) सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र और प्रत्येक हितकारी नियम में स्वतन्त्र रहना चाहिए।

आर्यसमाज के द्वारा हिन्दू-समाज में अनेक क्षेत्रों में सुधार हुए। उसने वेद-कालीन गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की स्थापना की तथा कन्याओं की शिक्षा के लिए अलग कन्या-गुरुकुल खोले। स्त्रियों में शिक्षा-प्रचार और परदा-प्रथा-निवारण के लिए खास तौर से काम किया। बाल-विवाह तथा वैवाहिक कुरीतियों के निवारण के लिए भी महान् प्रयत्न किया गया। मादक-द्रव्य-निषेध, हिन्दी-भाषा प्रचार विधवा-विवाह, अनाथों की रक्षा तथा शुद्धि-संगठन – ये आर्य-समाज के मुख्य आन्दोलन है। आर्यसमाज ने ऐसी सर्वतोमुखी क्रान्ति का प्रादुर्भाव किया कि जिससे मृतप्राय हिन्दू-जीवन में जागरण, शक्ति और स्फूर्ति का संचार होगया। भारतवर्ष में आज भी प्रत्येक नगर और जिले में आर्य समाज कार्य कर रहा है। भारत के बाहर भी यूरोप, अमरीका और अफ्रीका में जहाँ भारतीय प्रवासी रहते है, आर्यसमाज की संस्थाए है।

ब्राह्म-समाज

सन् १८२८ मे बंगाल में राजा राममोहन राय ने उपनिषदों के ब्रह्म की उपासना के लिए 'ब्राह्मसमाज' की स्थापना की। सन् १९३० में सबसे पहले उनका मन्दिर स्थापित किया गया जिसमें सबको प्रवेश की आज्ञा दी गयी। ब्राह्मसमाजी मूर्तिपूजा, जातपांत, अस्पृश्यता आदि कुप्रथाओं को नहीं मानते। इस प्रकार 'ब्राह्म-समाज' ने हिन्दुओं को विधर्मी होने से बचाया।

रामकृष्ण-मिशन

सन् १८३३ मे बगाल मे रामकृष्ण परमहस का जन्म हुआ । ये ईश्वर के अनन्य भक्त थे । सासारिक सुखो को त्याग कर उन्होने सन्यास-व्रत लिया और योग-समाधि द्वारा ईश्वर की प्राप्ति के लिए साधना की । उन्होने यह अनुभव किया कि सब धर्मों मे एकता है । इसलिए उन्होने किसी धर्म का खण्डन नही किया । स्वामी विवेकानन्द, जो रामकृष्ण के महान् शिष्यो मे से थे, वेदात के प्रकाण्ड पण्डित थे । उन्होने वेदान्त का प्रचार विदेशो मे भी किया । स्वामी रामकृष्ण के उपदेशो का प्रचार करनेवाली सस्था 'रामकृष्ण मिशन' नाम से प्रसिद्ध है ।

इस्लाम धर्म

इस्लाम या मुसलमान धर्म ससार के प्रमुख धर्मों मे से है । इसके सस्थापक हजरत मुहम्मद की जन्म-भूमि एशिया महाद्वीप के अरब देश में है । अरबवासियो के द्वारा ही यह धर्म भारत, अफगानिस्तान, मिश्र, तुर्की आदि देशो मे फैलाया गया । मुहम्मद साहब के उपदेशो का सग्रह 'कुरान' में है । जब मुसलमानो का राज्य हिन्दुस्तान मे हुआ तो उन्होने भी अपना धर्म यहाँ प्रचलित किया । कई मुसलमान बादशाहो ने धर्मप्रचार के लिए हिन्दू जनता पर बडे अत्याचार किये, किन्तु अकबर आदि ने जनता को पूर्ण स्वतन्त्रता दी । मुहम्मद साहब के उपदेशो का सार यह है—

(१) एक ईश्वर में विश्वास करो ।
(२) कुरान मे विश्वास करो ।
(३) खुदाई निर्णय, स्वर्ग और नर्क मे विश्वास करो ।
(४) पैगम्बरो मे भक्तिभाव रखो ।
(५) प्रतिदिन यह पाठ करना चाहिए कि "अल्लाह के सिवा और कोई ईश्वर नही है । मुहम्मद अल्लाह का पैगम्बर है ।"
(६) मक्का की ओर मुहँ करके दिन मे ३ से ५ बार तक नमाज पढनी चाहिए ।

(७) दान-दक्षिणा देनी चाहिए।

(८) रमजान के दिनों में व्रत रखना चाहिए।

(९) मक्का की तीर्थ-यात्रा करनी चाहिए।

इस्लाम का मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं है। उसका भ्रातृभाव और समानता का सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और उसका द्वार सब मनुष्यों के लिए खुला हुआ है। मुहम्मद साहब ने कर्म पर अधिक जोर दिया है। उन्होंने लिखा है—

"जो सच्चाई के साथ अपनी जीविका कमाते हैं, उन्हें ईश्वर प्रेम करता है।"

"ईश्वर उन लोगों पर कृपा करता है जो अपनी मेहनत से कमाते हैं और भिक्षावृत्ति पर निर्भर नहीं रहते।"

दान-दक्षिणा के सम्बन्ध में मुहम्मद साहब ने लिखा है—

"दान देना प्रत्येक मुसलमान का धर्म है। जिसके पास दान देने के लिए कुछ नहीं, उसे चाहिए कि वह दूसरों के साथ भलाई करे और बुराई से अलग रहे। यही दान है।

"भूखों को भोजन दो, रोगियों की सेवा करो। आपत्ति-ग्रस्त व्यक्ति की (चाहे वह मुसलमान हो या ग़ैर-मुसलमान) मदद करो।"

सहनशीलता की भावना के सम्बन्ध में मुहम्मद साहब का आदेश है—

"पूरा मुसलमान वही है जिसके वचन और कर्म से मानव-जाति सुरक्षित रहे। सावधान रहो! वह मुसलमान नहीं जो व्यभिचार करता है, चोरी करता है, मदिरा-पान करता है या जो किसी के धन का अपहरण करता है।'

"जो एकेश्वरवादी है और जो परलोक में विश्वास करता है, उसे अपने पड़ोसियों को हानि नहीं पहुँचानी चाहिए।"

"यदि तुम सृष्टि-रचयिता को प्रेम करते हो, तो पहले अपने सहयोगियों को प्रेम करो।"

'ईश्वर उसके लिए दयालु नहीं जो मानव-जाति के प्रति ऐसा व्यवहार नहीं करता।"

भारत में पुर्तगाल देशवासी व्यापार के लिए आये, तब उन्होने यहा ईसाई-धर्म का सूत्रपात किया। बाद मे यहाँ ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज्य उसके शासको द्वारा फैलाया जाने लगा और अंग्रेजी राज्य की स्थापना होजाने के बाद तो राजसत्ता की सहायता से यहाँ ईसाई-धर्म का जोरो से प्रचार किया गया। फलस्वरूप भारत में एक नया सम्प्रदाय पैदा हो गया जो 'इण्डियन क्रिश्चियन' कहलाता है। आजतक भारत मे यूरोप और अमरीका के विदेशी मिशन ईसाई धर्म का प्रचार करते आरहे हैं। नगर-नगर मे ईसाई और उनके पादरी और गिरजे दिखायी देते है। आरण्यक जातियो (जैसे भील, गोड, सथाल, कोल आदि) मे ईसाई धर्म-प्रचारको के विशेषरूप से केन्द्र बने हुए है, और उनमे नियमित रूप से प्रचार हो रहा है। ईसाई पादरी व प्रचारक शिक्षा, चिकित्सा आदि अनेक प्रकार से प्रलोभन भी देते हैं। सन् १९३१ मे भारत मे ईसाइयो की आबादी ६२ लाख ९७ हजार ७ थी।

पारसी धर्म

ईसा से पूर्व ८ वी सदी मे फारस मे पारसी मत की स्थापना हुई। जरथुस्त्र ने इस धर्म की प्रतिष्ठा की। यह फारस का राष्ट्रीय धर्म था और समस्त फारस मे इस धर्म के अनुयायी थे। परतु जब सन् ५३७ मे मुसलमानो ने फारस पर आक्रमण किया तो उन्होने बहुत-से पारसियो को मुसलमान बना लिया। जरथुस्त्र के कुछ अनुयायी भारत मे आकर बस गये। अब इस सम्प्रदाय के लोग केवल भारत मे ही मिलते है। पारसी धर्म का आधार नीति-शास्त्र है। ये अहिंसा, दान, पवित्रता और परोपकार मे पूरा विश्वास रखते है। ये अग्निपूजक है। तपस्या और तपस्वी जीवन के लिए पारसी धर्म मे कोई स्थान नहीं है। इनकी धर्म-पुस्तक 'अवेस्ता है'। पारसियो मे कोई जाति-भेद नहीं है। वे धर्मान्तर और प्रचार मे विश्वास नहीं करते। पारसियो में विद्या वैभव और विद्वत्ता अधिक है। पारसी अधिकाश मे बम्बई प्रान्त मे है। भारत में इनकी संख्या ११ लाख के लगभग है।

ता पद पा जाता है एक वैश्य क्षत्रिय बन सकता है। यदि ब्राह्मण में उसके वर्ण के अनुसार गुण-कर्म न हो तो वह गिर जाता है।

(१) ब्राह्मण के कर्त्तव्य—वेद-शास्त्रों तथा समस्त ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन करना, उसकी जनता को शिक्षा देना, शुभ कर्म करना, यज्ञ कराना, समाज को विद्यादि शुभ गुणों का दान देना और गृहस्थों से अपनी जीविका के लिए दान-दक्षिणा प्राप्त करना। गीता के अनुसार ब्राह्मण में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है—शम, दम, तप, शौच, क्षमा, निरभिमान, ज्ञान, विज्ञान तथा आस्तिकता।

(२) क्षत्रिय के कर्त्तव्य—वेद शास्त्रों का अध्ययन, यज्ञ तथा शुभ कर्म करना, सुपात्रों को दान तथा प्रजा को अभयदान, प्रजा की रक्षा, जितेन्द्रिय रहना, वीरता के काम करना, तेजस्वी होना, आपत्ति के समय धैर्य से काम लेना, सैन्य-विद्या में निपुणता, युद्ध-कौशल, ईश्वर-भक्ति तथा प्रजा को पुत्र के समान मानना।

(३) वैश्य के कर्त्तव्य—वेद-शास्त्रों का अध्ययन, यज्ञ करना, दान देना, पशु-पालन, वाणिज्य-व्यापार करना, ब्याज लेना तथा कृषि करना।

(४) शूद्र के कर्त्तव्य—मनुस्मृति के अनुसार परमेश्वर ने जो विद्याहीन हो जिसको पढ़ने से भी विद्या न आ सके, जो शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो उस शूद्र के लिए अन्य वर्णों की निंदा से रहित प्रीतिपूर्वक सेवा करना यही एक कर्म करने की आज्ञा दी गयी है।

इन वर्णों का आधार व्यक्ति के गुण, कर्म एवं स्वभाव है—इसके लिए मनुस्मृति का निम्नलिखित प्रमाण दिया जाता है—

"जो शूद्र कुल में उत्पन्न होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के समान गुण, कर्म स्वभाववाला हो वह ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य हो जाता है वैसे ही जो ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य कुल में उत्पन्न हुआ और उसके गुण, कर्म और स्वभाव शूद्र के सदृश हो, तो वह शूद्र हो जाता है।"[1]

---

[1] शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ मनु० अ० १० श्लोक ६५

उल्लेख है तो यह मत उचित नहीं लगता कि जातियाँ धार्मिक संस्थाएँ हैं। स्मृतियाँ तो युग विशेष के सामाजिक नियमों के संग्रह हैं। उनमें समय-समय पर परिवर्तन होना स्वाभाविक है।

जातियों की उत्पत्ति वस्तुतः हिन्दू-सामाजिक जीवन में अराजकता के फलस्वरूप हुई है। हिन्दू समाज में, जो हजारों उपजातियाँ हैं, वे हिन्दू जीवन की अन्य विशिष्टताओं से सम्बन्धित हैं। इन विशिष्टताओं में से एक है सम्मिलित परिवार।[1]

जाति की तीन मुख्य विशेषताएँ हैं। वे इस प्रकार हैं —

(१) जन्मपरक अपरिवर्तनशील विषमता

इसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता है वह आजन्म उसी में गिना जाता है। वह अपनी जाति को बदल नहीं सकता। यदि वह 'महत्तर' के कुल में पैदा हुआ है तो वह चाहे जैसा विद्वान और पण्डित क्यों न हो जाये, उसकी जाति 'महत्तर' ही रहेगी और समाज उसके साथ उसी प्रकार का व्यवहार करेगा।

(२) व्यवसायों व उद्योगों का जाति के आधार पर वर्गीकरण और उनकी विषमता

प्रत्येक जाति के लिए जो व्यवसाय या पेशा निर्धारित है वह उसी को करती है और अपनी सन्तान को भी वही काम सिखाती है। एक ब्राह्मण कहलानेवाला व्यक्ति पुरोहित का काम करके अपनी जीविका कमाता है, वह अपने पुत्र को भी वही काम सिखाता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति सफाई का काम करता है, वह अपनी सन्तान से भी वही काम कराता है।

(३) विवाह-सम्बन्ध तथा खानपान —

जाति की तीसरी विशेषता यह है कि वह विवाह-सम्बन्ध तथा खान-पान अपनी ही जाति तक परिमित रखती है। इस प्रकार जाति रक्त की पवित्रता पर अधिक जोर देती है।

---

१ के० एम० पणिक्कर 'हिन्दूइज्म एण्ड दि मॉडर्न वर्ल्ड' पृष्ठ २९

वह कोई दैवी विधान नहीं है जिसे ईश्वर ने हमपर लाद दिया हो। इस प्रकार यह भावना जाग्रत होती जा रही है कि मनुष्य ही समाज-व्यवस्था के निर्माता हैं।

कुटुम्ब का प्रयोजन

'कुटुम्ब' वह छोटे-से-छोटा मानव-समुदाय है जिसमें केवल पति-पत्नी और उनकी सन्तान हो अत विवाह के बाद ही कुटुम्ब का प्रादुर्भाव होता है।

कुटुम्ब मानव के जन्म के साथ ही पैदा हुआ और आज भी वह विद्यमान है। वास्तव में कुटम्ब उतना ही प्राचीन है जितनी कि मानव-जाति। मानव के कौटुम्बिक जीवन का समाज से गहरा सम्बन्ध है। वास्तव मे मानव-सभ्यता का आधार कुटुम्ब ही है। इसमे तनिक भी सन्देह नही कि कुटुम्ब के नाश होते ही मानव सभ्यता भी नष्ट होकर फिर उसी बर्बर दशा को प्राप्त हो जायेगी। विवाह, उत्तराधिकार, दत्त-विधान आदि सबका कुटुम्ब से सम्बन्ध है। कुटुम्ब और विशेष रूप से सयुक्त कुटुम्ब का आर्य-सस्कृति मे बडा महत्त्व है।

भारतवर्ष मे प्रारम्भ से ही सयुक्त कुटुम्ब-प्रथा पायी जाती है। भारत के अधिकाश मे पितृकुल ही है। दक्षिण में कुछ ऐसी जातियाँ भी है जिनमे मातृकुल भी पाये जाते हैं। कुटुम्ब-प्रथा के पीछे दो विचार प्रमुख है—स्त्रियाँ पवित्र और साध्वी रहे और उत्तराधिकार का नियत्रण पुरुषो के हाथ मे हो। जबतक समाज मे इन दोनो विचारो का आदर होता रहेगा, तबतक कुटुम्ब कायम रहेगा।

संयुक्त-कुटुम्ब-प्रथा

सयुक्त-कुटुम्ब की प्रथा बहुत प्राचीन है। इसमे पति, पत्नी पिता, माता, पितामह, पितामही, बहन, भाई पुत्र पुत्री, दत्तक पुत्र आदि शामिल है। कुटुम्ब के विशेष नियम होते है। इन्हे कुलाचार कहते है। जन्मोत्सव, उपनयन, विवाह, खान-पान, सामाजिक रीति-रिवाज, उत्तराधिकार और

सदाचार आदि इन कुलाचारों ही पर निर्भर होते है। संयुक्त-कुटुम्ब मे गृहपति का स्थान सर्वोच्च है और गृहिणी उसके अधीन रहती है।

हिन्दू-विधान के अनुसार आजकल कुटुम्ब के निम्नलिखित सदस्यो को सम्पत्ति के अधिकार विरासत म मिलते है—

(१) पुत्र (२) पौत्र (३) प्रपौत्र (४) पत्नी (५) पुत्री (६) नाती (धेवता) (७) मा (८) पिता (९) भ्राता (१०) भतीजा आदि। दायभाग-कानून के अनुसार बगाल मे यदि कोई हिन्दू किसी भी सम्पत्ति को छोड़कर मर जाये या मिताक्षरा कानून के अनुसार कोई हिन्दू अपनी पृथक् सम्पत्ति छोड़कर मर जाये तो उसकी एक या सब विधवा स्त्रियो को मिलकर उसके पुत्र के बराबर भाग मिलेगा। परन्तु उसका या उनका सम्पत्ति पर वैसा अधिकार न होगा जैसा स्त्री-धन पर होता है।

सयुक्त कुटुम्ब मे स्त्री-पुरुष के अधिकार

सयुक्त-कुटुम्ब मे पुरुष को कुटुम्ब मे सबसे अधिक अधिकार प्राप्त है। पुत्र का अपने पिता की आधी सम्पत्ति पर अधिकार होता है। वह उसे अपने पिता के जीवन मे विभाजित करा सकता है। जबतक वह जीविकोपार्जन के योग्य नही हो जाता तबतक पिता से उसे भरण-पोषण का अधिकार है। पिता की मृत्यु के बाद उसकी पैतृक या अर्जित सम्पूर्ण सम्पत्ति पर उसका पूरा अधिकार हो जाता है। वह उसे वसीयत मे दे सकता है, बेच सकता है या रहन रख सकता है। उसे सम्पत्ति क्रय करने का भी अधिकार है। वह उसे दान अथवा दहेज मे दे सकता है। उसके अधिकार पर बन्धन नही है। परन्तु यदि उसके कोई पुत्र है तो उसे उसके अधिकार पर आघात करने का अधिकार नही है। यदि पुत्र के आधे हिस्से को उसने भ्रष्ट कर दिया या उसे अनावश्यक ढग से खर्च किया तो पुत्र को उसे पुन प्राप्त करने का अधिकार है। पुरुष, सक्षेप मे गृहस्वामी है। वह वास्तविक अर्थ मे गृह का स्वामी है, स्त्री गृह-स्वामिनी है। परन्तु उसके गृह मे अधिकार बहुत सीमित है। कुटुम्ब मे स्त्रियो मे केवल निम्नलिखित स्त्रियो को सम्पत्ति के अधिकार प्राप्त है—

(१) विधवा पत्नी (२) पुत्र की विधवा पत्नी (३) पौत्र की विधवा पत्नी (४) पुत्री (५) मा (६) पितामही (७) वहन (८) पौत्री (९) पुत्र की पुत्री।

स्त्रियो के सम्पत्याधिकार दो प्रकार के है। एक को हम स्त्री-अधिकार (Woman's Estate) कहते है और दूसरे को स्त्री-धन। पुरुष से जो सम्पत्ति विरासत मे प्राप्त होती है, वह स्त्री-अधिकार है। उस सम्पत्ति को केवल भोगने का ही उसे अधिकार है। उस पर उसका पूर्ण स्वामित्व नही होता।

स्त्री-धन पर स्त्री का पूर्ण अधिकार होता है। यहाँ स्त्री-धन का प्रयोग विशिष्ट अर्थ मे किया गया है। विशिष्ट स्त्री-धन मे निम्नलिखित सम्पत्ति सम्मिलित है--

१ सम्बन्धियो से प्राप्त दान या वसीयत।

२ वस्त्राभूषण।

३ विवाह-सस्कार के अवसर पर या उससे पूर्व अन्य पुरुषो से प्राप्त दान।

४ गैर सम्बन्धियो से प्राप्त दान।

५ कुमारावस्था या विधवावस्था मे कला-कौशल द्वारा अर्जित सम्पत्ति।

६ वम्बई प्रान्त मे जो सम्पत्ति स्त्री अपने पितृ-कुल मे वसीयत मे प्राप्त करती है, वह चाहे पुरुष से प्राप्त की गयी हो या स्त्री से, स्त्री-धन है।

७ वृत्ति के वदले मे मिली सम्पत्ति।

८ विपरीत कब्जे द्वारा प्राप्त सम्पत्ति।

९ ग्राट, दान, समझौते या विभाजन द्वारा प्राप्त सम्पत्ति, यदि दाता का उद्देश्य स्त्री को पूर्ण अधिकार देने का हो।

१० स्त्री-धन द्वारा क्रय की हुई सम्पत्ति।

पुत्रियो के पालन-पोषण का भार कुटुम्ब पर होता है। सयुक्त कुटुम्ब के पुत्र, पौत्र और प्रपौत्रो के पालन-पोषण, उपनयन-सस्कार तथा विवाह का भार भी कुटुम्ब पर होता है। पुत्रियो व वहनो का विवाह भी कुटुम्ब

[illegible] पाता है। [illegible] कि [illegible] पति के [illegible] आधार है। [illegible] के अनुसार [illegible] में माता पिता, [illegible] और [illegible] पुत्र [illegible] चाहिए। हिन्दू [illegible] कि स्त्री [illegible] पूर्ण [illegible] ने [illegible] रहता है और स्त्रियाँ [illegible] करती है।[1] गृह की व्यवस्था में स्त्रियों का पूर्ण अधिकार होता है। विवाह तथा जन्मोत्सव आदि अवसरों पर उन्हीं के अनुसार सब काम होता है।

हिन्दू पति को बहु-विवाह का अधिकार है। वह एक ही समय में एक से अधिक स्त्रियों से विवाह-सम्बन्ध कर सकता है। परन्तु इसका उपयोग लोग बहुत कम करते हैं क्योंकि इसे अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता। विधवा-विवाह की प्रथा अब पूर्ण प्रचलित हो गयी है। पर फिर भी ब्राह्मणों आदि जातियों में, जो बहुत-ही कट्टर हैं अपनी विधवा पुत्रियों को युवती होने पर भी अविवाहित रखते हैं, उनका पुनर्विवाह नहीं करते जबकि पुरुषों को पुनर्विवाह का अधिकार है। सती प्रथा तो बहुत पहले से गैर-कानूनी घोषित हो चुकी है। फिर भी आजकल कभी-कभी हिन्दू विधवाएं सती हो जाती हैं। सती होने में मदद करना आज दण्डनीय अपराध है। बहु-विवाह को रोकने के लिए जुलाई १९३८ में क्रमश 'बहुविवाह अवरोध कानून' तथा 'बहुविवाह नियमन कानून' के मसविदे भारतीय राज्यपरिषद् (कौंसिल आफ स्टेट) में प्रस्तुत किये गये थे, परन्तु अभीतक इनके सम्बन्ध में कोई निश्चय नहीं हो सका।

हिन्दू-समाज में बाल-विवाह का भी अधिक प्रचार है। यद्यपि सन्

---

१. ब्रह्म-देश में पति को विवाहोपरान्त ससुराल में रहना पड़ता है। पत्नी बाहर जीविकोपार्जन करती है, बाजारों में दूकान पर बैठती है और पति गृह के काम-काज करते हैं।

संयुक्त कुटुम्ब-प्रथा का भविष्य

हिन्दू जीवन पर पाश्चात्य [illegible] प्रभाव पड़ा है। पाश्चात्य देशों में संयुक्त कुटुम्ब की प्रथा नहीं है। वहाँ कुटुम्ब में पति-पत्नी होते हैं और बालक। [illegible] पुत्रों व पुत्रियों का विवाह नहीं होता तब तक वे भी साथ रहते हैं। बाद में वे अलग रहते हैं। पाश्चात्य देशों में स्त्री-स्वातंत्र्य तथा व्यक्तिवाद की भावना के कारण संयुक्त कुटुम्ब का विकास नहीं है। आज भारत में नवीन सभ्यता के उपासक युवक और युवतियाँ भी स्वतन्त्र जीवन बिताने के लिए संयुक्त-कुटुम्ब का त्याग कर रहे हैं। यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। देश के आर्थिक जीवन और औद्योगीकरण का भी संयुक्त कुटुम्ब पर प्रभाव पड़ रहा है।

अब जीवन-निर्वाह की समस्या इतनी जटिल हो गयी है कि एक व्यक्ति बड़े-बड़े कुटुम्ब का पालन करने में असमर्थ-सा रहता है। गाँवों के लोग शहरों में आकर बस जाते हैं और मिलों तथा कारखानों में मजदूरी करते हैं। शहरों में जीवन बिताना बड़ा कीमती पड़ता है। इसलिए ये मजदूर ग्राम से अकेले आते हैं या अपनी स्त्री-बच्चों को साथ ले आते हैं। इस प्रकार संयुक्त कुटुम्ब की प्रथा टूटती जा रही है।

आश्रम-व्यवस्था

पुराने समय में भारतीय ऋषियों ने जिस प्रकार सामाजिक जीवन को चार वर्णों में बाँटा था, उसी प्रकार व्यक्तिगत जीवन को भी चार आश्रमों में बाँटा हुआ था। मनुष्य की औसत आयु १०० वर्ष मानी गयी है। इसीके आधार पर मानव-जीवन को चार भागों में विभाजित किया गया था—ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। सबसे पहले २५ वर्ष तक मनुष्य को ब्रह्मचर्य्य का पालन करना चाहिए। इसके बाद विवाह करके अपनी सहधर्मिणी के साथ समाज-सेवा में रत रहना चाहिए। ५० वर्ष की आयु तक गृहस्थ-जीवन बिताना चाहिए। बाद में वानप्रस्थी बनकर वन में योग-साधन और स्वाध्याय करना चाहिए।

इसकी अवधि ७५ वर्ष की आयु तक है। इसके बाद १०० वर्ष अर्थात् मृत्यु पर्यन्त सन्यासी रहना चाहिए।

परन्तु आज वर्ण-व्यवस्था के साथ यह आश्रम-व्यवस्था भी नष्ट हो-चुकी है। आज का हिन्दू-जीवन वैदिक-जीवन नही रहा। उसमें मौलिक परिवर्तन हो गया है। आज सिवा आर्य-समाज के गुरुकुलो के और कही 'ब्रह्मचारी' नही मिलेगे। गुरुकुलो मे २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य का पालन कर वेदादि शास्त्रो का अध्ययन किया जाता है।

सन्यासियो का हिन्दू-समाज में बडा महत्त्व है। उनकी बडी 'पूजा' की जाती है। आज भारत में ५२ लाख से भी ज्यादा साधु और सन्त है जो हिन्दू गृहस्थों के ७१ करोड से भी अधिक रुपये प्रतिवर्ष खाने-पीने, नशे, कपडे-लत्ते और भोग-विलास मे व्यय करते है। जिस देश में रात-दिन मेहनत करनेवाले मजदूर दो वक्त मामूली खाना भी नही खा सकते, उस देश मे भारत के २३½ करोड हिन्दुओ के पसीने की कमाई पर ५२ लाख साधु महन्त और सन्तो का खाना, पीना ओर मौज उडाना हिन्दू-समाज की अध-श्रद्धा का एक ज्वलन्त प्रमाण है।

अस्पृश्यता

'अस्पृश्यता' हिन्दू-धर्म का महान् पाप है, उसपर लगी हुई जग है। अत्यजो का तिरस्कार करना मनुष्यता को खोदेना है।[1]

'अस्पृश्यता' नाम का रोग हिन्दू-समाज की ही एक विशेपता है। हिन्दू-शास्त्रो मे छुआछूत पर धार्मिक आवरण डाल दिया जाने से वह बद्धमूल हो गया है। यह वास्तव मे एक महान् सामाजिक पाप है जो हिन्दुओ ने अपने ही धर्म-बन्धुओ के साथ किया है। किसी वर्ग को अस्पृश्य घोपित करदेना वास्तव में मानवता का अपमान ही है। आज भारत में ६ करोड से भी अधिक हिन्दू नर-नारी अस्पृश्यता के अभिशाप का दुख भोग रहे है। उन्हे हिन्दू समाज मे रहते हुए न धार्मिक अधिकार है, न

---

१ 'हमारा कलक' महात्मा गाधी

सामाजिक अधिकार और न धार्मिक अधिकार ही प्राप्त है। वे अपने ग्राम या नगर के सार्वजनिक स्थानो, जलाशयो, स्कूलो, मन्दिरो, नदी, तालाब तथा कुओ का प्रयोग स्वतन्त्रता से नही कर सकते।

महात्मा गाधी ने सबसे पहले हिन्दू-समाज के इस पाप के विरुद्ध सन् १९३२ मे देशव्यापी आन्दोलन खडा किया। उनके पूर्व भी आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता स्वामी दयानन्द ने दलितोद्धार-आन्दोलन और पजाब के प्रसिद्ध नेता लाला लाजपतराय ने अछूतोद्धार-आन्दोलन शुरू किया। अपने समय मे इन आन्दोलनो को एक सीमा तक सफलता भी मिली। परन्तु महात्मा गाधी ने जो आन्दोलन सन् १९३२ मे 'साम्प्रदायिक निर्णय' के विरोध मे यरवदा-जेल मे बन्दी की दशा मे शुरू किया, वह कई दृष्टियो से सबसे महत्त्वपूर्ण है।

महात्माजी ने सबसे गहरा प्रहार अस्पृश्यता की धार्मिकता पर किया। उन्होने ससार और हिन्दू-समाज को यह चुनौती दी कि वह यह सिद्ध करे कि वेदो या शास्त्रो मे अस्पृश्यता का विधान है। उन्होने यह घोषणा की कि अस्पृश्यता धार्मिक नही है। वह एक सामाजिक कोढ है। उसका निर्माण समाज ने किया है अत उसका नाश भी समाज के उद्योग से हो सकता है।

साम्प्रदायिक निर्णय के विरोध मे जब गाधीजी ने यरवदा-जेल मे आमरण अनशन रखा तब २५ सितम्बर १९३२ को बम्बई मे सनातन हिंदू-धर्म के महान् नेता प० मदनमोहन मालवीय के सभापतित्व मे हिन्दुओ और हिन्दू नेताओ ने सर्व-सम्मति से निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया—

"यह सम्मेलन यह निश्चय करता है कि भविष्य में हिन्दुओ मे कोई भी व्यक्ति अपने जन्म के कारण अछूत नही माना जायेगा और अबतक जो ऐसे माने गये है, उन्हे सार्वजनिक कुओ, स्कूलो, सडको, और समस्त सार्वजनिक सस्थाओ के प्रयोग के सम्बन्ध मे दूसरे हिन्दुओ के समान अधिकार होगा। प्रथम सुयोग प्राप्त होने पर इस अधिकार को कानूनी स्वीकृति दी जायेगी। यदि पहले से ही इसे कानूनी स्वीकृति नही मिली, तो यह स्वराज्य पार्लमेण्ट के प्रथम कानूनो मे से एक होगा।"

"और यह भी निश्चय किया गया है कि समस्त हिन्दू-नेताओं का यह कर्तव्य होगा कि वे समस्त शान्तिमय और वैध उपायों द्वारा दलित वर्गों पर लादी गयी समस्त सामाजिक अयोग्यताओं और मन्दिर-प्रवेश के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध के निवारण के लिए शीघ्र प्रयत्न करें।"

इस प्रस्ताव द्वारा समस्त हिन्दू-नेताओं ने यह घोषणा की कि भविष्य में कोई भी हिन्दू अपने जन्म के कारण अछूत न माना जायेगा और साथ ही इस प्रस्ताव के दूसरे भाग द्वारा यह निश्चय किया गया कि दलित वर्ग पर जो सामाजिक प्रतिबन्ध तथा मन्दिर-प्रवेश के सम्बन्ध में जो रुकावटें हैं, उसे 'शान्तिमय तथा वैध' उपायों द्वारा शीघ्र दूर करने का प्रयत्न किया जावे। शान्तिमय तथा वैध उपायों के अन्तर्गत धारा-सभा द्वारा कानून-निर्माण भी शामिल है। इस प्रकार इन अयोग्यताओं के निवारण तथा मन्दिर-प्रवेश की सुविधा देने के लिए केन्द्रीय धारा-सभा तथा प्रान्तीय धारा-सभाओं का उपयोग किया जाना उचित है।

'हरिजन' नाम देकर हरिजन-सेवा, आदि देशव्यापी आन्दोलन के सूत्रधार महात्मा गांधी हैं।

'हरिजन-सेवक-संघ' नाम की एक अखिल भारतीय संस्था का कार्य ही इन अधिकार-वंचित हिन्दुओं की तरह-तरह से सेवा करना तथा छुआछूत को मिटाना है, इसकी शाखाओं के रूप में प्रत्येक प्रान्त में हरिजन सेवक संस्थाएँ कार्य कर रही हैं।

मुस्लिम जीवन

हिन्दू और मुस्लिम सामाजिक जीवन में स्पष्ट अन्तर दिखायी देता है। मुसलमानों की आदर्श समाज-व्यवस्था का मूलाधार सामाजिक एकता की भावना है। मुस्लिम समाज में प्रत्येक मुसलमान बराबर हैं। यद्यपि मुसलमानों में हिन्दू-समाज-जैसी ३००० से भी ऊपर जातियाँ और अगणित उपजातियाँ नहीं हैं, तोभी मुसलमानों में शिया और सुन्नी दो बड़े सम्प्रदाय हैं। इनके अतिरिक्त और भी अनेक सम्प्रदाय और जातियाँ हैं। उत्तराधिकार, विरासत, वसीयत, विवाह, वक्फ आदि के संबंध में

मुसलमानो की व्यवस्था मुस्लिम कानून के अनुसार होती है। मुसलमानो मे हिन्दू संयुक्तकुटुम्ब-प्रथा जैसी कोई संस्था नही है। सम्मिलित रहने से वे सम्मिलित कुटुम्ब नही कहला सकते।

उत्तराधिकार

मुसलमानो मे दो सम्प्रदाय प्रमुख है और उन दोनो के कानून भी भिन्न-भिन्न हैं। हनाफी-कानून (सुन्नी-कानून) के अन्तर्गत उत्तराधिकारी तीन श्रेणियो मे विभाजित है। प्रथम श्रेणी के उत्तराधिकारियो के हिस्से कानून द्वारा निर्धारित है जो निम्न प्रकार है--

(१) पिता (२) पितामह (३) पति (४) पत्नी (५) मा (६) पितामही (७) पुत्री (८) पोती (९) सहोदर भ्राता (१०) सहोदर बहन इत्यादि।

इन सबके हिस्से निर्धारित है। इनको देने के बाद दूसरी श्रेणी के उत्तराधिकारियो को हिस्सा मिलता है। पुत्र और पौत्र दूसरी श्रेणी मे आते हैं। परन्तु व्यवस्था इसप्रकार की गयी है कि पुत्र व पौत्रो के लिए काफी हिस्सा बच रहता है। शिया-कानून के अनुसार उत्तराधिकारियो को ३ भागो मे बाटा गया है--प्रथम श्रेणी मे रक्त-सम्बन्ध रखनेवाले वारिस आते है जैसे माता-पिता और उनकी सन्तान, पितामह और पितामही तथा भाई और बहन और उनकी सन्तान, चाचा तथा मामा और उनकी सन्तान, पितामह और पितामही तथा भाई और बहन और उनकी सन्तान, चाचा तथा मामा और उनकी सन्तान, पति-पत्नी विवाह-सम्बन्ध से उत्तराधिकारी है। मुसलमानो का उत्तराधिकार कानून इतना जटिल और पेचीदा है कि उसे समझना एक समस्या है।

सम्पत्याधिकार की दृष्टि से मुस्लिम स्त्रियो की स्थिति हिन्दू-महिलाओ से कही उत्तम और श्रेष्ठ है। मुस्लिम महिलाओ को अपने हिस्से पर पूर्ण अधिकार होता है। मुसलमान अपनी सम्पत्ति को वसीयत मे भी दे सकता है। परन्तु किसी वारिस के नाम वसीयत उस समय तक वैध नही मानी जाती जबतक कि वसीयत करनेवाले की मृत्यु के बाद

दूसरे वारिस अपनी सम्मति न देदे। मुसलमान एक तिहाई से अधिक सम्पत्ति वसीयत द्वारा नही दे सकता। यह एक-तिहाई भाग क्रिया-कर्म के खर्च तथा कर्जे को अदा करने के बाद जो बचे उसका हिस्सा माना जाता है। मुसलमान को अपनी सम्पत्ति दान करने का अधिकार है। वह अपनी सारी सम्पत्ति अपने वारिस को भी दान कर सकता है।

विवाह

विवाह को मुसलमानो मे धार्मिक सस्कार नही माना जाता। वह केवल एक समझौता है जिसका उद्देश्य सन्तानोत्पादन और बच्चों को कानूनी अधिकार-युक्त बनाना है। मुसलमानो में विवाह १५ वर्ष की आयु मे किया जा सकता है। परन्तु यदि किसीका विवाह उसकी सम्मति के बिना किया जाये और विवाह के समय उसकी उम्र १५ वर्ष की हो तथा दिमाग भी सही हो, तो ऐसा विवाह अवैध होगा। विवाह के लिए एक पक्ष की ओर से प्रस्ताव होना चाहिए और दूसरे पक्ष द्वारा उसे स्वीकृति दी जानी चाहिए। यह कार्य दो साक्षियो के सामने होना चाहिए। प्रस्ताव और उसकी मजूरी एक ही मिलन मे होनी चाहिए। यदि प्रस्ताव एक बार किया गया हो और उसकी स्वीकृति एक या दो दिन बाद दी जाये तो यह उचित नहीं। विवाह के लिए किसी प्रकार के धार्मिक या सामाजिक कृत्य की आवश्यकता नही है। एक मुसलमान एक समय में एक साथ चार पत्नियाँ तक रख सकता है। मुसलमान अपनी मा, मातामही, पुत्री, पौत्री, प्रपौत्री, बहन, चाची तथा मामी के साथ विवाह नही कर सकता। वह अपनी सास, अपनी पत्नी की पुत्री, अपने पिता की स्त्री या अपने पुत्र की वधू से भी विवाह नही कर सकता। परन्तु दो भाइयो या बहनो की सन्तानो मे परस्पर विवाह हो सकता है।

शिया-कानून दो प्रकार के विवाहो को स्वीकार करता है, एक स्थायी और दूसरा अस्थायी। एक मुसलमान पुरुष मुस्लिम, ईसाई, यहूदी या पारसी स्त्री के साथ अस्थायी विवाह कर सकता है। परन्तु शिया स्त्री किसी गैर-मुस्लिम पुरुष से अस्थायी विवाह नही कर सकती। यह अस्थायी विवाह क्या है? अस्थायी विवाह के लिए यह जरूरी है कि

सहगमन की अवधि निश्चित करदी जाये—यह एक दिन, एक मास या एक साल या अधिक समय के लिए हो सकती है और दूसरी बात यह है कि महर निर्धारित कर दिया जाये। जबतक महर निर्धारित नहीं किया जाये तब तक अस्थायी विवाह बंध नहीं हो सकता।

प्रत्येक मुस्लिम स्त्री को विवाह के समय निर्धारित दहेज (Dower) वर की ओर से भेंट किया जाता है। यह दो प्रकार का होता है। एक तो सुहागरात में पूर्ण देना होता है और दूसरा तलाक या मृत्यु के समय उसके वारिस को देना पड़ता है।

तलाक

मुसलमानों में तलाक की प्रथा है। विवाह-सम्बन्ध-विच्छेद तीन प्रकार से हो सकता है—

(१) पति-द्वारा अपनी इच्छानुसार,

(२) पति-पत्नी की परस्पर सम्मति से,

(३) पति या पत्नी की प्रार्थना पर न्यायालय के निर्णय से।

मुस्लिम पति को जिसका दिमाग सही है तथा जिसकी उम्र १५ साल की है अपनी पत्नी को अपनी इच्छा से बिना कोई कारण बतलाये तलाक देने का अधिकार है।[१] यह वास्तव में स्वेच्छा की पराकाष्ठा है।

पति-पत्नी परस्पर सम्मति से तलाक दे सकते हैं। परन्तु पत्नी को अपनी ओर से तलाक देने का अधिकार केवल निम्न-लिखित दशाओं में ही प्राप्त है। वे दशाएँ निम्न प्रकार हैं—

(१) पति की नपुंसकता, परन्तु नपुंसकता विवाह के समय होनी चाहिए और उसके बाद भी बराबर रही हो और तब उसे उसका ज्ञान न हो।

(२) यदि पति ने पत्नी पर व्यभिचार का मिथ्या दोषारोपण किया हो।

---

१ मुल्ला 'प्रिंसिपिल्स ऑव मुहम्मडन लॉ' पृ० २०२

मुस्लिम स्त्री केवल उपर्युक्त दो आधारो पर ही तलाक़ के लिए न्यायालय से प्रार्थना कर सकती है।

यदि उसका पति व्यभिचार करता है, उपपत्नी रखता है, या उसकी परवरिश नहीं करता है, तो भी पत्नी के लिए विवाह-सम्बन्ध को तोड़ने का अधिकार नहीं है। इस सम्बन्ध मे मुस्लिम स्त्री का भाग्य ऐसा नहीं है कि हिन्दू महिला उससे ईर्ष्या करे।

मुस्लिम महिलाओं मे परदे की बड़ी भयकर कुप्रथा है। इन परदे की प्रथा ने स्त्रियो को विलास की सामग्री बना दिया है। परदे की प्रथा के कारण न स्त्रियो मे शिक्षा का प्रचार व प्रसार हो सकता है और न वे सामाजिक या राजनीतिक आन्दोलन में पुरुषो का हाथ बँटा सकती हैं।

विवाहो के अवसरो पर दहेजो का रिवाज भी मुसलमानो में बहुत अधिक है।

मुसलमानो मे हिन्दू-समाज की तरह जाति-भेद भी है। जो लोग मुसलमान बनाये जाते है, वे अक्सर हिन्दुओ के दलितवर्ग के व्यक्ति ही होते है। वे मुसलमान होकर भी मुस्लिम-समाज में 'दलित' ही बने रहते है। उनके साथ समानता का व्यवहार नहीं किया जाता।

ईसाई, पारसी आदि जीवनो का यद्यपि भारतवर्ष मे अस्तित्व है, जिसका परिचय धार्मिक जीवन मे दिया गया है। पर उनका भारतीय सस्कृति मे कोई विशेष स्थान नहीं है।

: १३ :

नागरिकों का स्वास्थ्य

सुखपूर्वक जीवनयापन के लिए स्वास्थ्य अत्यन्त आवश्यक है। यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि 'स्वस्थ शरीर मे ही स्वस्थ मस्तिष्क का वास होता है।' हममे से प्रत्येक अपने अनुभव से यह जानता है कि यदि हमारे शरीर मे कोई कष्ट और पीडा हो तो उसका हमारे चित्त और मस्तिष्क पर भी प्रभाव पडता है, वह खिन्न और दुखी रहता है।

भारतवर्ष मे जनता मे स्वास्थ्य के प्रति बडी उपेक्षा की भावना देखी जाती है। जनता सुन्दर स्वास्थ्य का न मूल्य समझती है और न आवश्यकता। फिर उसकी प्राप्ति के लिए चेष्टा करना तो दूर रहा। यही कारण है कि हमारे देश मे जन्म और मृत्यु की औसत सख्या अन्य देशो से बहुत बढी-चढी है। बाल-मृत्यु तथा प्रसूताओ की भीषण मृत्यु-सख्या बडी भयानक है और हृदय को कँपा देनेवाली है।

स्त्री-पुरुषों की मृत्यु सख्या का अनुपात

मृत्यु-सख्या का अनुपात प्रति १०० जन्म इस प्रकार है—

आयु	बालक	बालिकाएँ
०	२४ ८९	२० ७१
१	९ १८	८ ६५
२	५ ६४	५ ०६
३	३ ९२	३ ४०
४	२ ७८	२ ३३
५	१ ९३	१ ६५
६	१ ४५	१ २५
७	१ १५	१ ०१
८	९४	८८
९	८३	८२

सन्	जन्म	अनुपात प्रति १०००	मृत्यु	अनुपात प्रति १०००
१९३१	९१,३५,८९०	[illegible]	[illegible]	[illegible]
१९३२	९०,५८,५०६	[illegible]	[illegible]	२१.८५
१९३३	९६,३८,८७४	[illegible]	[illegible]	२२.९५
१९३४	८२,८८,८९७	[illegible]	[illegible]	२३.००
१९३५	९६,९८,७९८	[illegible]	[illegible]	२३.६

उपर्युक्त १० वर्ष की मृत्यु और जन-सख्या के अंकों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत मे जन्म और मृत्यु-सख्या में क्रमोन्नति होती रही है।

सन् १९३० की जनगणना के अनुसार भारत मे प्रति १००० जन्म के पीछे १८०.८३ बालकों-बालिकाओं की मृत्यु का अनुपात है। इन दस वर्षों मे इसमे कोई सुधार नहीं हुआ। भारत मे बाल-मृत्यु अन्य देशों की अपेक्षा बहुत ही अधिक है। नगरों मे और विशेषत बड़े-बड़े नगरों मे मृत्यु का अनुपात तो और भी अधिक है। ५ वर्ष तक की आयु के बालकों की मृत्यु सख्या एक लाख जन्म पीछे ४५ हजार है।

भारत की जन-सख्या मे वृद्धि

भारत की जन-सख्या मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती जारही है। जन-सख्या की वृद्धि के सम्बन्ध मे निम्नलिखित अंकों से इस वृद्धि का अनुपात ज्ञात हो जायेगा —

सन्	भारत की जन-सख्या	वृद्धि की सख्या
१८९१	२८,७३,१४,६७१	
१९००	२९,४३,६१,०५६	+ ७०,४६,३८५
१९११	३१,५१,५६,३९६	+ २,०७,९५,३४
१९२१	३१,८९,८२,४८०	+ ३८,३६,०८४
१९३१	३५,२८,३७,७७८	+ ३,३८,५५,२९८

इस वर्ष (१९४१ मे) जो मनुष्य-गणना हुई है, उसके अनुसार भारत की जन-सख्या प्राय ४० करोड हो गयी है। इस प्रकार १०

वर्षों मे प्राय ५ करोड जन-सख्या की वृद्धि हुई।

जन-सख्या मे यह वृद्धि वास्तव मे एक बडी विकट समस्या है। भारत मे भीषण दरिद्रता की छाया मे जनता की सख्या मे वृद्धि वास्तव मे एक ऐसी समस्या है जो समाज-शास्त्रियो के लिए एक आश्चर्य है। भारत मे इतने भीषण रोगो, भयकर बीमारियो तथा बालमृत्यु-सख्या के बावजूद भी यहाँ सख्या बढती जारही है और यदि उसी क्रम मे सख्या मे वृद्धि होती रही तो इस बढती हुई सख्या के पालन पोषण की समस्या बडा विकट रूप धारण कर लेगी।

प्रसूति-काल मे मृत्यु

भारत मे बहुत छोटी आयु मे विवाह होजाने से स्त्रिया छोटी आयु में ही गर्भधारण करने लगती है। शारीरिक अवस्था भी गर्भधारण के पूर्णत अयोग्य होती है इसलिए यहा प्रसूति-काल में ही माताएँ रोगिणी बन जाती है और शीघ्र ही मृत्यु के मुख मे चली जाती है।

बालमृत्यु सम्बन्धी अक देखने से यह भलीभाति प्रमाणित हो जाता है कि १६ वर्ष की अवस्था तक बालिकाओ की अपेक्षा बालको की मृत्यु अधिक सख्या मे होती है। परन्तु इस आयु के बाद जब वे गर्भ-धारण करने लगती है तो उनकी मृत्युसख्या का अनुपात पुरुषो की अपेक्षा बढ जाता है। १५ से ४० वर्ष की अवस्था में स्त्रियो की मृत्यु अधिक होती देखी गयी है। इसके कई कारण है—(१) बाल-विवाह (२) कम आयु म शरीर की दुर्बल अवस्था मे गर्भधारण (३) प्रसूति-काल मे दुर्व्यवस्था (४) स्वच्छ वायु, प्रकाश और स्थान का अभाव (५) पौष्टिक भोजन का अभाव।

प्रसूति काल म माताओ की मृत्यु के सम्बन्ध में १९३३ मे डा० जान मिगाट ने जाच की थी। उनके अनुसार प्रसूताओ की मृत्यु के अक २०५ प्रति हजार है।

उनका कथन है कि १००० बालिका माताओ मे २०० माताओ की मृत्यु तो प्रसूति-काल मे ही हो जाती है और बाल्यकाल भ र म

[illegible]	[illegible]
प्लेग से	[illegible]
[illegible]	[illegible]
हैजे से	[illegible]
[illegible]	[illegible]
बुखार से	[illegible]
अन्य रोगों से	[illegible]

भारतवर्ष में राजयक्ष्मा रोग भीषण रूप धारण करता जा रहा है। सरकार भी उसकी भीषणता का अनुभव करने लगी है और लेडी लिनलिथगो ने आन्दोलन करके राजयक्ष्मा के प्रतिकार के लिए (King Emperor's Anti-Tuberculosis Fund) कोष स्थापित किया है जिसमें कई लाख रुपये जमा हो चुके हैं। इस कोष के धन से भारत भर में आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली के अनुसार राजयक्ष्मा के रोगियों के लिए चिकित्सालय व स्वास्थ्यशालाएँ बनाई जायेंगी। भारत में इस रोग से ५ लाख व्यक्ति मर जाते हैं। यह रोग सब रोगों से भयंकर घातक और सार्वजनिक स्वास्थ्य का महान् शत्रु है। हैजा, प्लेग आदि तो कभी-कभी प्रकोप करते हैं और कुछ समय के बाद शान्त भी हो जाते हैं, परन्तु यक्ष्मा रोग तो जिस गृह में एक बार उसके किसी सदस्य पर आक्रमण करता है, उस गृह का ही सर्वनाश नहीं करता प्रत्युत पड़ोसियों के लिए भी घातक सिद्ध हो जाता है। समाज के—गृह के सबसे उपयोगी और स्वस्थ लोगों पर इसका प्रभाव अधिक होता है। युवक, युवती स्त्रियों, विद्यार्थियों तथा माताओं पर यह भयंकर रोग अपना बड़ा घातक आक्रमण करता है।

भारत के अपाहिज

भारत में दूसरे देशों की अपेक्षा अपाहिजों की भी संख्या बहुत अधिक है। अपाहिजों में पागल, गूँगे-बहरे, अंधे और कोढ़ी सम्मिलित हैं। सन् १९३१ की जन-गणना के अनुसार समस्त भारत में—

सफाई के नियमो के ज्ञान के अभाव मे उनके पालन की आशा करना व्यर्थ है। भारतवर्ष मे स्वास्थ्य तथा सफाई के नियमो के प्रचार तथा नागरिको-द्वारा उनके पालन करने की बडी आवश्यकता है।

नागरिक भावना का अभाव—इसके अतिरिक्त जनता मे नागरिक-भावना (Civic Sense) का भी बडा अभाव है। गृह-देविया अपने मकान की सफाई करके कूडा-कर्कट, गोबर, पाखाना, कीचड या मैला पानी, लापरवाही के साथ अपने द्वार के सामने बिखेर देती है। वे इतना सोचने का कष्ट नही उठाती कि यह कूडा कर्कट पडा रहकर कितनी घातक दुर्गन्ध पैदा करता है और रोग के कीटाणुओ को पैदा करता है। स्वच्छता बनाये रखना मुहल्ले के प्रत्येक व्यक्ति का वतव्य है। इस कूडे-कचरे को कुत्ते, बिल्ली, पशु-पक्षी (जैसे मुर्गिया यदि मुहल्ले मे ईसाई या मुसलमानो के घर हो) तितर-बितर करके और भी गदगी बढा देते है। घर के पास ही बच्चे पाखाना फिरते देखे जाते है। रेलवे के डिब्बे तक मे इतनी अधिक गन्दगी होती है कि वहा बैठना कभी-कभी नरक-यात्रा से कम नही होता। यात्री लोग अपनी सीट पर बैठे-बैठे ही हाथ-मुह धोकर पानी रेल के डिब्बे मे ही छोड देते है, पान की पीक से फर्श को गदा कर देते है और थूकना तो साधारण-सी बात है। रेल के डिब्बे मे जो शौचालय होता है, वह भी गदा रहता है और इसके लिए यात्रा करने-वाले नागरिक ही जिम्मेदार है। यह उनकी स्वास्थ्य के प्रति उपेक्षा पर एक खेदजनक आलोचना है कि वे इन शौचालयो का भी ठीक तरह से प्रयोग करना नही जानते।

मेलो, उत्सवो, सम्मेलनो या विवाहादि के समारोहो के समय तो और भी अधिक गन्दगी के दर्शन होते है। भारत मे जब हैजा या इन्फ्लुएजा शुरू होता है, तब उसका श्रीगणेश हरिद्वार के कुम्भ, इलाहाबाद के गगा-स्नान, मथुरा के मेलो तथा गढमुक्तेश्वर के स्नान के मेलो से ही होता है। ऐसे अवसरो पर लोग चाहे जिस स्थान पर मल-मूत्र का त्याग करते है और ये मल-मूत्र और विशेषत हैजा के रोगियो के मल-वमन आदि के कीटाणु खाद्य पदार्थों मे मिलकर स्वस्थ लोगो

वती स्त्रियों का गिरा हुआ स्वास्थ्य तथा मूर्ख दाइयों-द्वारा प्रसव
या का सम्पादन। बच्चे जनाने का काम ग्रामों और नगरों में
शिक्षित तथा गँवार दाइयों द्वारा किया जाता है। वे अपने
स्थ्य के नियमों के प्रति अज्ञान के कारण प्रसव के समय शुद्धि का
ान नहीं रखती। फलत प्रसूत-काल में स्त्री के गर्भाशय में विष का
वार होजाता है। इस प्रकार प्रसूताएँ रोगी होकर मर जाती हैं। इस
र कई प्रान्तों की सरकारों ने म्युनिसिपल बोर्डों-द्वारा शिक्षित धात्रियों
lidwives) तथा परिचारिकाओं (Nurses) की व्यवस्था करदी है जो
ना किसी फीस के प्रसव-क्रिया का सम्पादन करती हैं। प्रत्येक बड़े
ार में स्वास्थ्य-केन्द्र तथा प्रसूता-केन्द्र (Maternity Centers) खुल गये
, तो भी इस दिशा में अभी बहुत-कुछ करने की जरूरत है। ग्रामों में
ी ऐसी ही व्यवस्था हो जानी चाहिए।

(२) परदा-प्रथा

भारतवर्ष के संयुक्तप्रान्त, बिहार, राजस्थान, मध्य- भारत तथा
ड़ीसा और कुछ देशी राज्यों में मुसलमानों तथा हिन्दुओं में परदे की
ड़ी बुरी प्रथा आज भी प्रचलित है। बगाल, पंजाब मद्रास, बम्बई,
ासाम तथा महाराष्ट्र आदि प्रान्तों में स्त्रियों में परदे का बिल्कुल
रिवाज नहीं है। भारत में परदे के कारण स्त्रियों को हर समय घर की
ल में बन्द रहना पड़ता है। वे न शुद्ध हवा पा सकती हैं और न
हलकर अपने स्वास्थ्य को सुधार सकती हैं। परदे के विरुद्ध जबसे
आन्दोलन छिड़ा है और जबसे राष्ट्रीय आन्दोलन ने जोर पकड़ा है तबसे
इस दिशा में कुछ सुधार हुआ भी है। प्रसन्नता की बात है कि शिक्षित
समाज में से परदा विदा होता जा रहा है।

(३) शुद्ध तथा पौष्टिक खाद्य-पदार्थों का अभाव

अस्वास्थ्य का एक बड़ा प्रमुख कारण है शुद्ध खाद्य-पदार्थों का अभाव।
आजकल के बाजार में प्राय कोई भी खाद्य वस्तु शुद्ध रूप में नहीं

मिलती। आटा, चावल, दाल आदि सड़े-गले मिलते हैं। मिठाइयाँ मिलावट के घी की, या खराब तेल की होती हैं और दूध आदि तरल पदार्थ शुद्ध नहीं मिलते। जब राष्ट्र के नागरिकों को ये शुद्ध पौष्टिक पदार्थ खाने के लिए न मिलेंगे तो फिर उनका स्वास्थ्य अच्छा कैसे बनेगा? म्युनिसिपलबोर्डों तथा जिलाबोर्डों की ओर से शुद्ध-भोजन मे मिलावट के विरुद्ध कानून चलाये गये है, परन्तु कर्मचारियों और अधिकारियों की उपेक्षा तथा अवहेलना के कारण इनका ठीक-ठीक पालन नही हो रहा है।

(४) असयत-जीवन तथा मादक-द्रव्यो का प्रयोग

भारतवर्ष मे जीवन को सदाचारी बनाने की ओर दूसरे देशो की अपेक्षा जितना ही अधिक उपदेश दिया जाता है उतना ही कम उस पर आचरण किया जाता है। समाज मे व्यभिचार गुप्त व्यभिचार, बलात्कार तथा वेश्या-वृत्ति का चक्र समूचे समाज के स्वास्थ्य के लिए घातक सिद्ध हो रहा है। भारत मे बढती हुई दुष्कृतियाँ तथा अपराध इसका स्पष्ट प्रमाण है। रहा-सहा स्वास्थ्य मादक-द्रव्यो के प्रयोग द्वारा नष्ट हो रहा है। भारत के नगरो में मिल और कारखानो के पास ही मादक-द्रव्यो की दूकानें हैं जिन्हे सरकार का सरक्षण प्राप्त है। मज़दूर लोग ८—१० घण्टे काम करने के बाद अपनी थकावट मिटाने को शराब, ताडी या अफीम आदि का सेवन करते हैं। सन् १९३७ मे जब ७ प्रान्तो मे कांग्रेस ने मन्त्रित्व-पद-ग्रहण किया, तब महात्मा गाधी की प्रेरणा तथा आदेश से कांग्रेस मन्त्रियों ने अपने-अपने प्रान्तो मे मादक-द्रव्यो के निषेध (Prohibition) के लिए उद्योग किया था। और मद्रास, बम्बई, सयुक्त प्रान्त, बिहार उडीसा, व मध्यप्रदेश मे शराबबन्दी कुछ चुने हुए विशेष जिलो व नगरो मे की गयी थी।

महात्माजी का यह कार्यक्रम था कि ३ वर्षों मे समस्त देश में पूर्ण रूप से शराबबन्दी हो जायेगी, परन्तु नवम्बर १९३९ में युद्ध के कारण कांग्रेसी मन्त्री-मण्डलो ने पद-त्याग कर दिया और यह कार्य आगे न बढ सका। वर्तमान सरकार उसी पुराने कार्य को उसी मर्यादा में कर

रही है। बम्बई की हाईकोर्ट की ओर से जबसे यह निर्णय हुआ है कि शराबबन्दी की व्यवस्था अवैध है, तब से बम्बई नगर में पुनः मद्य निषेध व्यवस्था भंग हो गयी है।

(५) अस्वास्थ्यप्रद मकान

ग्रामों और नगरों में मकानों का निर्माण बहुत ही अवैज्ञानिक ढंग से किया जाता है। सम्पत्तिशाली शिक्षित वर्ग के लोग और बम्बई, कलकत्ता अहमदाबाद जैसे नगरों के सेठ-व्यापारी अपने आराम के लिए तो खुले स्थानों में बँगले तथा कोठियाँ बनवाते हैं, परन्तु उनके कारखानों व मिलों में काम करनेवाले मजदूरों के लिए बड़ी गन्दी और अस्वास्थ्यकर कोठरियाँ होती हैं। उन्हें ८ फीट लम्बी चौड़ी कोठरियों में ४ से ८ तक की संख्या में गुजर करनी पड़ती है।

नगरों के मकान एक-दूसरे से इतने सटे हुए होते हैं कि उनमें शुद्ध हवा और प्रकाश का प्रवेश स्वतन्त्र रूप से नहीं हो पाता।

(६) आर्थिक दुर्दशा और दरिद्रता

भारतवासियों के हीन स्वास्थ्य का एक प्रधान कारण उनकी आर्थिक दुर्दशा और भयंकर गरीबी तथा बेकारी भी है। जून १९४१ में भारत-मन्त्री श्री एमरी ने पार्लमेंट में भाषण करते हुए भारत के सम्बन्ध में कहा—"**भारत समृद्धिशाली है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के पास अधिक राज-कोष है ।**"

परन्तु इस कथन में सचाई का लेश भी नहीं है। भारत की समृद्धि का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भारत-मन्त्री ने प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारों की बढ़ती हुई आमदनी पर अपनी दृष्टि डालकर यह निष्कर्ष निकाल लिया है कि भारत समृद्धिशाली है। परन्तु उन्होंने नयी दिल्ली और लखनऊ, बम्बई कलकत्ता, मद्रास, लाहौर आदि नगरों के सरकारी खजानों के आदिस्रोत पर विचार करने का कष्ट नहीं किया।

देश की जनता की समृद्धि का पता शिमला-शैल के भव्य भवनों में

निवास करनेवाले सम्पत्ति-जीवियो से नही लग सकता। इसके लि
तो भारत के ग्रामो का भ्रमण आवश्यक है। आप किसी भी ग्राम
चले जाइए, वहाँ आपको दरिद्रता का ताण्डव दिखायी देगा और उसके
चारो ओर खडे दीखेंगे रोग, चिन्ता, बेकारी, और दैन्य।

सन् १९३८ मे तत्कालीन अर्थ-मन्त्री सर जेम्स ग्रिग ने अपने बज
भाषण मे कहा था कि—'ब्रिटिश भारत की राष्ट्रीय आय १६ अरब
रुपये है। यदि इस कथन को सत्य मान लिया जाये तो ब्रिटिश भारत
मे प्रत्येक व्यक्ति की औसत वार्षिक आमदनी ५३ रुपये ५ आने ४ पाई
होती है। यदि इस आय मे से केन्द्रीय, प्रान्तीय सरकारो तथा स्थानीय
बोर्डों को दिये जानेवाले टैक्सो को कम कर दिया जाये जो अनुमान
से ८ रुपये ५ आने ४ पाई होते है तो प्रत्येक व्यक्ति की वार्षिक आम-
दनी ४५ रुपये पडती है। इस प्रकार ४ रुपये मासिक से भी कम
आमदनी पडती है।'[1]

क्या यह भारत की समृद्धि का प्रमाण या उसकी भीषण दरिद्रता
का चित्र है?

(७) स्वास्थ्य-विभाग की अव्यवस्था

सार्वजनिक स्वास्थ्य की रक्षा तथा सफाई की व्यवस्था का पूरा
उत्तरदायित्व प्रत्येक प्रान्त की सरकार पर है। प्रत्येक प्रान्त मे एक
स्वास्थ्य-विभाग होता है। इसका प्रधान अधिकारी तो मत्री होता है,
परन्तु विभाग-सम्बन्धी व्यवस्था का दायित्व इडियन सिविल सर्विस के
सेक्रेटरी पर रहता है। प्रत्येक प्रान्त मे स्वास्थ्य-विभाग का एक डाइरेक्टर
होता है जिसके नियन्त्रण मे स्वास्थ्य-विभाग का कार्य सचालित होता
है। यह विभाग अपना कार्य स्थानीय बोर्डों (चुगियो तथा जिला बोर्डों)
के द्वारा सम्पादन करता है। इस विभाग के स्थानीय कर्मचारी स्थानीय

---

१ भारत-मत्री ऐमरी के भाषण पर सर इब्राहीम रहमतुल्ला खाँ
का वक्तव्य—'लीडर' (१९ जून १९४१)।

बोर्ड के नियन्त्रण मे रहते है। स्थानीय बोर्डों का शासन-प्रबन्ध वैसे ही असन्तोषजनक रहता है। इनके सदस्य तथा चेयरमैन राजनीतिक चालो का आश्रय लेकर नागरिक जीवन के साथ खिलवाड करना ही अपना मनोरजन या व्यापार समझते हैं।

यही कारण है कि इन बोर्डों के नियन्त्रण मे रहने के कारण स्वास्थ्य-विभाग के स्थानीय अधिकारी भी मनमाने ढग से कार्य करते है। प्रत्येक नगर मे एक हैल्थ आफीसर तथा कई सेनीटरी इन्सपैक्टर होते है। इनका यह कार्य है कि बस्तियो मे भ्रमण कर सफाई की व्यवस्था करे। परन्तु देखा यह गया है कि ये अफसर वर्षो मे भी किसी बस्ती मे निरीक्षण करने नही आते और न सेनीटरी इन्स्पेक्टर ही अपने कर्त्तव्यो का पालन करते है।

स्वास्थ्य-विभाग की ओर से मेहतरो के रहन-सहन तथा उनके सफाई-कार्य मे सुधार करने के लिए इस विभाग की ओर से कोई कार्य नही किया गया है। कलकत्ता, बम्बई आदि बडे नगरो मे तो कुछ प्रबन्ध किया भी गया है।

स्वास्थ्य-विभाग की ओर से नगरो मे वाटिकाओ व पार्कों, स्वास्थ्य-गृहो तथा जलाशयो की व्यवस्था होनी चाहिए। परन्तु इस ओर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है।

स्वास्थ्य सुधार के उपाय

हमने स्वास्थ्य-हीनता के जिन कारणो पर ऊपर विचार किया है, उनके निवारण द्वारा ही स्वास्थ्य मे सुधार हो सकता है। यदि उपर्युक्त कारणो के निवारण के लिए समस्त नागरिक मिलकर स्वास्थ्य-विभाग के सहयोग से प्रयत्न करे, तो कोई कारण नही कि भारतवासियो के स्वास्थ्य मे सुधार न हो सके।

: १४ :

सांस्कृतिक जीवन

शिक्षा साहित्य, भाषा और कला संस्कृति के अंग हैं। अतः भारत के सांस्कृतिक जीवन पर विचार करने में इन पर विचार करना आवश्यक है।

शिक्षा

प्राचीन काल में शिक्षा

आज सभी विद्वान् एक मत से यह स्वीकार करते हैं कि शिक्षा का लक्ष्य मानव की शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का सामंजस्यपूर्ण विकास और उत्कर्ष है। आज भारत में जो शिक्षा-प्रणाली प्रचलित है, उसमें राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती। इसलिए उसके प्रति बड़ा असन्तोष पैदा हो रहा है और उसमें सुधार और संशोधन के लिए उद्योग किया जा रहा है। अतः भारत में शिक्षा पर विचार करते समय यह उपयोगी होगा कि हम अपनी प्राचीन वैदिक शिक्षा-प्रणाली का तो अवलोकन करें ही, उसकी विशिष्टताओं पर भी विचार करने का प्रयास करें।

पुराने समय में शिक्षा का आधार आध्यात्मिक था। समस्त ज्ञान विज्ञान, कला-कौशल, साहित्य आदि का धर्म से घनिष्ट संबंध था। धर्म आज-कल जैसी सांसारिक जीवन से अलग देवमन्दिरों में तीर्थों या मठों तक ही परिमित रहनेवाली चीज़ नहीं थी। धर्म सच्चे अर्थों में सामाजिक जीवन का आधार था। उस समय गुरुकुल थे। गुरुकुल का अर्थ है आचार्य, शिक्षक या अध्यापक का परिवार। उसके सदस्य गुरुकुल के छात्र होते थे, जो 'ब्रह्मचारी' कहे जाते थे, क्योंकि गुरु उन्हें 'ब्रह्म' (ज्ञान) की ओर ले जाने की भावना से पथ-प्रदर्शन करता था। इनमें बालक और बालिकाएं निःशुल्क शिक्षा ग्रहण करते थे। गुरुकुल के संचालन में सहयोग और आत्मिक सद्भावना देना गुरुकुल का पवित्र कर्तव्य होता

था। फलस्वरूप गुरुकुल आर्थिक चिन्ता से मुक्त होकर अपने आचार्यों द्वारा ब्रह्मचारियों को सम्यक् ज्ञान देते थे।

वैदिक साहित्य में आचार्य की जो महत्ता है उसका एकमात्र कारण यह है कि आचार्य ब्रह्मचारी का धर्म-पिता है, वह उसे आचार की शिक्षा देता है, उसका आध्यात्मिक संस्कार करता है। माता-पिता तो उसके शरीर का पालन पोषण मात्र ही करते हैं परन्तु आचार्य के हाथ में इससे भी गुरुतर कार्य—चरित्र का निर्माण—जिसके ऊपर उसका सारा जीवन निर्भर है। चरित्र-निर्माण में शारीरिक और आत्मिक पवित्रता की साधना होती है। इस प्रकार वैदिक शिक्षा शुद्धि का समन्वय थी। अनुशासन द्वारा शरीर की शुद्धि, शिक्षण द्वारा शक्तियों की शुद्धि, ज्ञान द्वारा बुद्धि या मन की शुद्धि और ध्यान तथा मनन द्वारा आत्मा की शुद्धि।

वैदिक शिक्षा-प्रणाली में अनुशासन पर स्वाध्याय से अधिक ध्यान दिया जाता था। सरल और तपस्वी जीवन पर आग्रह था। वैयक्तिक और सामूहिक आचार, स्वास्थ्य-संबंधी तथा सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन तत्परता से होता था।

प्राचीन-काल में सार्वजनिक-शिक्षा अधिकांश में मौखिक रूप में हुआ करती थी, आजकल की तरह पुस्तकों द्वारा नहीं। धार्मिक शिक्षण द्वारा उस सार्वजनिक शिक्षा को आध्यात्मिक रंग दिया गया और धर्म और कला में सामंजस्य स्थापित करके संस्कृति का निर्माण हुआ। ईसा की सातवीं शताब्दी में जब विद्यापीठों, मठों और मन्दिरों द्वारा इस सार्व-जनिक शिक्षा का प्रसार हुआ तो उस संस्कृति का विस्तार हुआ। ग्रामों में भी शिक्षा का खूब प्रचार हुआ। ग्राम-पाठशालाएं स्थापित की गयीं। हरिकीर्तन और नाटकों द्वारा धर्म और संस्कृति का प्रसार हुआ।

स्त्रियों की शिक्षा

वैदिक काल में और उसके बाद के युग में स्त्रियों को भी पुरुषों के बराबर ही शिक्षा प्राप्त करने का समान अधिकार था।

आज जबकि भारत मे शिक्षा के पुनर्सगठन पर विचार हो रहा है वर्तमान शिक्षा के दोषो के परिहार के लिए विचार करने के साथ-साथ उसमे अपने गुणो के समावेश करने का प्रयत्न करे जो हमारी वैदिक सस्कृति की रक्षा के लिए आवश्यक है तथा जिससे राष्ट्र का भी हित हो सकता है।

वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली

आज भारत मे जो शिक्षा-प्रणाली प्रचलित है उसकी सभी शिक्षा-विदो और लोकनेताओ ने घोर निंदा की है। इस प्रणाली मे कई बडे दोष है—पहला यह है कि वह न तो शिक्षा और जीवन म कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करती है और न जीवन की आवश्यकताओ पर ही ध्यान देती है।

यद्यपि वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति के दोषो को सभी विद्वान् स्वीकार करते है, तथापि इससे कोई इन्कार नहीं करता कि इसने देश की बडी सेवा की है। इस प्रणाली ने भारत मे ब्रिटिश शासन को शिक्षित शासक ही प्रदान नहीं किये है प्रत्युत भारत में राष्ट्रीय और राजनीतिक नवचेतना और जागरण मे भी विशेष योग दिया है। नवीन-शिक्षा ने भारत मे विद्वान्, वैज्ञानिक और महान् दार्शनिको को पैदा किया है जिन्होने न केवल भारत का ही मस्तक ऊंचा किया है प्रत्युत अन्तर्राष्ट्रीय-जगत मे भी अपना विशेष स्थान प्राप्त किया है। परन्तु इसका यह मतलब नही कि भारत मे जो विद्वान्, वैज्ञानिक और महापुरुष हुए है और जो इस समय मौजूद है, उनके निर्माण मे केवल पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली को ही श्रेय है। उनकी महानता मे उनके विशिष्ट व्यक्तित्व, उच्च सस्कार और अपूर्व प्रतिभा ने भी पर्याप्त योग दिया है। फिर भी आज हम यह अनुभव करते है कि वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली मे परिवर्त्तन की जरूरत है।

दूसरा यह कि इसका लक्ष्य राष्ट्रीयता से दूर है। वास्तव मे इसका विकास भारत मे अग्रेजी शासको की सुविधा और शासन-सचालन के

उद्देश्य से किया गया था और इस उद्देश्य की पूर्ति मे इसने बहुत हदतक सफलता प्राप्त की है।

तीसरा यह है कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी बनाकर भारतीय भाषाओ के विकास और उन्नति पर ध्यान नहीं दिया गया। मातृभाषा मे शिक्षा न होने से भी विद्यार्थियो का बहुमूल्य समय अंग्रेजी भाषा को सीखने मे व्यतीत होता है।

चौथा यह कि यह शिक्षा सैद्धान्तिक ही है, व्यावहारिक नहीं। इसलिए जब विद्यार्थी स्कूल या कॉलेज को छोडकर ससार में प्रवेश करते है, तो उन्हे व्यावहारिक जीवन मे बडी असफलता का सामना करना पडता है।

पाँचवाँ और सबसे बडा दोष यह है कि पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली आर्यसस्कृति के विरुद्ध है। वह चरित्र-निर्माण और सदाचार की सर्वथा उपेक्षा करती है। ज्ञान-वृद्धि के लिए वह पर्याप्त सुयोग प्रदान करती है, परन्तु छात्रो की मानसिक, शारीरिक एव आत्मिक शक्तियो का सामजस्यपूर्ण विकास नहीं करती। वह राष्ट्रीयता एव एकता की भावना के प्रादुर्भाव के लिए भी कोई ध्यान नही देती और न छात्रो मे नागरिकता की भावना का प्रादुर्भाव ही करती है।

भारत में विश्व-विद्यालय

भारत मे सबसे पहले सन् १८५७ में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास मे तीन विश्व-विद्यालय स्थापित किये गये थे। विश्व-विद्यालय दो प्रकार के है। एक प्रकार के वे है जो अपने अन्तर्गत कालेजो की परीक्षा का प्रबन्ध करते है। उनकी ओर से कॉलेजो मे शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं होता। प्रत्येक कालेज जो ऐसे विश्व-विद्यालय से सम्बन्धित होता है, उसके द्वारा निर्धारित पाठ्य-क्रम के अनुसार शिक्षा का प्रबन्ध करने में स्वतन्त्र है। दूसरे प्रकार के विश्व विद्यालय वे है जिनके अन्तर्गत कालेजों का प्रबन्ध स्वय विश्वविद्यालय की कार्य-कारिणी कौंसिल और सीनेट के अधीन होता है। पहले प्रकार के विश्व-विद्यालयों में आगरा, बम्बई,

लकत्ता आदि विश्वविद्यालय हैं। दूसरे प्रकार के विश्वविद्यालयों में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय और इलाहाबाद विश्वविद्यालय है। भारतवर्ष के विश्वविद्यालय कब कब स्थापित हुए यह नीचे लिखी सारिणी से स्पष्ट हो जावेगा।

विश्वविद्यालय		सन्	विश्वविद्यालय		सन्
१ कलकत्ता	वि०वि०	१८५७	१० अलीगढ	मुसलिम	१९२०
२ मद्रास	,,	१८५७	११ रंगून	,,	१९२०
३ बम्बई	,,	१८५७	१२ लखनऊ	,,	१९२०
४ पंजाब	,,	१८८२	१३ अनमलाई	,,	१९२०
५ इलाहाबाद	,,	१८८७	१४ ढाका	,,	१९२१
६ बनारस, हिंदू	,,	१९१६	१५ दिल्ली	,,	१९२२
७ पटना	,,	१९१७	१६ नागपुर	,,	१९२३
८ मैसूर	,,	१९१६	१७ आन्ध्र	,,	१९२६
९ हैदराबादउसमानिया		१९१८	१८ आगरा	,,	१९२७

इन विश्वविद्यालयों में भाषा-साहित्य, इतिहास, राजनीति, दर्शन, मनोविज्ञान, ज्योतिष, रसायन, भूगर्भ, भौतिक विज्ञान, व्यापार-वाणिज्य, अर्थ-शास्त्र, जीव-शास्त्र, वनस्पति-विज्ञान, चिकित्सा, इंजिनियरी, कृषि, कानून आदि की उच्चशिक्षा का प्रबन्ध है।

अन्य शिक्षा-संस्थाएँ

सन् १९३५ की भारत सरकार की शिक्षा-विभाग की रिपोर्ट के अनुसार समस्त भारत में २ लाख ५६ हजार २६३ स्कूल तथा कालेज हैं। इनमें कुल १ करोड ३५ लाख २ हजार ८६५ छात्र शिक्षा पा रहे हैं। कुल जनसंख्या का ५% भाग शिक्षा पा रहा है। १९३५, के अंक ये हैं—

संस्थाएँ	छात्र-संख्या	छात्रा-संख्या
कालेज	१,०९,३१५	२,४९३
हाई स्कूल	९,४४,९२२	९८,९७५
मिडिल स्कूल	११,७२,०६५	१,४६,०४२

१९३७ को राष्ट्रीय-शिक्षा-विशारदों का एक सम्मेलन आमन्त्रित किया गया। इस सम्मेलन में महात्मा गांधी ने अपने उपर्युक्त लेखों के आधार पर भाषण दिया और शिक्षा के सुधार पर विस्तारपूर्वक अपने विचार व्यक्त किये। इनपर विचार-विनिमय के बाद निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया गया—

(१) राष्ट्रव्यापी निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा ७ वर्ष तक हो ऐसी व्यवस्था की जाये, शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो, इस अवधि में महात्मा गांधी के मन्तव्यानुसार शिक्षा रचनात्मक उद्योग द्वारा दी जाये। सम्मेलन को यह आशा है कि इस शिक्षा-पद्धति द्वारा धीरे-धीरे अध्यापकों का वेतन भी प्राप्त किया जा सकेगा।

इस शिक्षा-सम्मेलन ने जामिया मिलिया, दिल्ली के प्रिंसिपल डा० ज़ाकिरहुसैन की अध्यक्षता में वर्धा-शिक्षा-कमेटी की नियुक्ति भी की जिसे प्राथमिक शिक्षा के लिए उपर्युक्त प्रस्ताव के अनुसार ७ वर्षों के लिए पाठ्य-क्रम तैयार करने का कार्य सौंपा गया।

बुनियादी तालीम

उक्त कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में सात साल के लिए बुनियादी तालीम (Basic Education) की व्यवस्था की है।

बुनियादी तालीम की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) स्कूल में प्रत्येक बालक को अपनी रुचि के अनुसार एक आधारभूत उद्योग चुनना चाहिए जिसकी व्यवस्था स्कूल के द्वारा की गयी हो। इस उद्योग के आधार पर बालक को शिक्षा दी जाये। इसके साथ ही साथ उसे दो सहायक उद्योगों का भी चुनाव करना चाहिए, जैसे कताई और बागवानी। १२ वर्ष की अवस्था तक इन उद्योगों की शिक्षा केवल शिक्षा के मूल्य की दृष्टि से दी जाये, औद्योगिक दृष्टि से नहीं। जो बालक भविष्य में उद्योग में निपुणता प्राप्त करना चाहें उन्हें अन्तिम दो सालों में औद्योगिक ढंग पर शिक्षा देने की व्यवस्था की जायेगी। लड़कियों को घरेलू धंधों की शिक्षा दी जायेगी और अन्तिम दो वर्षों में बच्चों के पालन तथा देख-रेख की शिक्षा दी जा सकती है।

(२) 'समाज-सेवा' (ग्राम-स्वास्थ्य, प्रचार, दुष्काल मे सेवा, रोग तथा वाढ से पीडितो की सेवा, स्थानीय मेलो की व्यवस्था, सम्मेलनो मे स्वय-सेवक का कार्य, किन्डरगार्टन दर्जो की व्यवस्था मे सहयोग, स्त्री-समाज-सघ तथा सेवासघ,) प्रकृति-निरीक्षण, भ्रमण, खेल, व्यायाम आदि।

(३) शिक्षा मे कार्यशीलता के सिद्धान्त की स्वीकृति, इसका अर्थ यह है कि वालको की स्वाभाविक तथा रचनात्मक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन और वालको की वौद्धिक, सामाजिक तथा शारीरिक शक्तियो के विकास के लिए पूर्ण सुयोग दिया जाये।

(४) राज्य को प्रत्येक वालक के लिए ७ वर्ष की आयु से १४ वर्ष की आयु तक नि शुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए।

(५) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होगी तथा 'हिन्दुस्तानी' का सामान्य ज्ञान अनिवार्य होगा। पिछले दो वर्षो मे अग्रेजी केवल उनको पढायी जायेगी जो आगे हाई स्कूल या कॉलेज की शिक्षा प्राप्त करना चाहते हो।

(६) पाठ्य-क्रम मे आधुनिक शिक्षा-सम्वन्धी आदर्शों के प्रकाश मे परिवर्तन किया जाये।

(७) नागरिकता की तैयारी के उद्देश्य से पाठ्य-क्रम वनाया जाये, केवल इस लिहाज से नही कि प्राथमिक शिक्षा उच्च शिक्षा का आधार है।

(८) पाठ्यक्रम मे सामान्य नागरिक-शास्त्र और सामान्य विज्ञान को स्थान दिया जाये।

(९) भारतीय इतिहास को भारतीय दृष्टिकोण से पढाया जाये, राष्ट्रीय आन्दोलन तथा सामयिक घटनाओ का भी ज्ञान आवश्यक है।

(१०) चरित्र-निर्माण को शिक्षा का आवश्यक अग माना जाये। सदाचार की शिक्षा सामाजिक एव मनोविज्ञान की दृष्टि से दी जाये, विशुद्ध धार्मिक दृष्टि से नही।

(११) मनोवैज्ञानिक प्रणाली द्वारा स्कूल के वातावरण को शुद्ध तथा

अनुकूल बनाया जाये। अध्यापक और छात्रों में सहकारिता का भाव हो।

(१२) वार्षिक परीक्षाएँ उठा दी जायें और स्कूलों में रिकार्ड द्वारा ही श्रेणी चढ़ायी जाये।

(१३) बारह वर्ष की आयु में छात्र की मनोवैज्ञानिक परीक्षा की जाये और उसकी रुचि तथा प्रवृत्ति की जाँच की जाये तथा उसके संरक्षक को सूचनाएँ दी जायें।

(१४) स्कूल के वातावरण, कार्य-प्रणाली तथा शिक्षा में राष्ट्रीय तथा अहिंसात्मक दृष्टिकोण सामने होना चाहिए।

इसमें सन्देह नहीं कि यह शिक्षा की एक क्रान्तिकारी योजना है। इससे राष्ट्र का हित होगा, क्योंकि यह राष्ट्र-हित की दृष्टि से ही तैयार की गयी है। महात्माजी शिक्षा को स्वाश्रयी (Self supporting) बनाना चाहते हैं। उनका यह संकल्प प्रारम्भिक दशा में पूरा होगा अथवा नहीं, यह अभी से निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। जब इस योजना के अनुसार समस्त भारत में प्राथमिक शिक्षा का प्रबन्ध हो जायेगा, तब इसमें जो दोष परीक्षण-काल में मालूम होंगे, उनके निवारण के लिए भविष्य में प्रयत्न किया जा सकेगा। परन्तु इसमें तनिक भी शक नहीं कि वर्धा-शिक्षा-योजना ही एक ऐसी योजना है, जो आज १५० वर्षों के ब्रिटिश शासन में सबसे पहली बार राष्ट्रीय हित की दृष्टि से रखी गयी है और जिसपर संयुक्तप्रांत, मध्यप्रांत, बम्बई आदि कई प्रांतों में अमल भी होने लगा है।

भाषा और लिपि

हिन्दी-राष्ट्रभाषा

भारत की सबसे प्राचीन भाषा संस्कृत है परन्तु आज वह किसी भी प्रान्त की बोल-चाल की भाषा नहीं है। हाँ, यह निर्विवाद है कि भारत की अधिकांश प्रान्तिक भाषाएँ हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती उर्दू, सिन्धी, पंजाबी, राजस्थानी और उड़िया संस्कृत से उत्पन्न और विकसित हुई हैं और शेष द्राविड़ो—तामिल, तेलगू, मलयालम, कन्नड़ पर भी संस्कृत का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। और इन सब प्रान्तीय

भाषाओं में हिन्दी ही सबसे अधिक बोली और पढ़ी-लिखी जाती है।

सन् १९३१ में भारत की जनसंख्या ३५,२९,८६,८७६ थी। इनमें देशी रियासतों की संख्या भी शामिल है जो ८ करोड़ से ऊपर है।

हिन्दीभाषी प्रान्त

भारत के संयुक्तप्रान्त, बिहार-उड़ीसा, पंजाब, मध्यप्रान्त-बरार, दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा, और कुछ हिन्दीभाषी रियासतें हैं, जिनकी कुल जनसंख्या सन् १९३१ ई० के अनुसार १७ करोड़ ३३ लाख ७० हजार, ४५७ है।

अहिन्दी-भाषी प्रान्त

बंगाल, मद्रास, बम्बई-सिन्ध, कुर्ग, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, बलूचिस्तान, आसाम, ब्रह्मा तथा कुछ अहिन्दीभाषी रियासतें हैं जिनकी जनसंख्या १७ करोड़ ४८ लाख ७२ हजार ९०७ है।

इस प्रकार हिन्दी-भाषाभाषियों और इतर भाषा-भाषियों की जनसंख्या प्रायः बराबर है। इसलिए हिन्दी भाषा ही राष्ट्र की भाषा कहलानेयोग्य है। परन्तु, मुसलमानों की ओर से यह दावा पेश किया जा रहा है कि उर्दू ही राष्ट्र-भाषा हो सकती है। इस प्रकार भाषा के इस राष्ट्रीय प्रश्न पर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से विचार करने की पद्धति शुरू हो गयी है। आजकल सामान्यभाषा और राष्ट्र-भाषा—इन दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया जाने लगा है। इस प्रकार इससे भ्रान्तिपूर्ण विचारों का प्रचार होने लगा है। सामान्य-भाषा क्या है? यह वह भाषा है जो प्रत्येक प्रान्त में बोल-चाल में काम आती है और जिसे थोड़ा बहुत सभी समझ सकते हैं और बोल सकते हैं। सामान्य भाषा पर स्थानीय भाषा का भी प्रभाव पड़ता है। जैसे, कलकत्ता के बाजारों में बोली जानेवाली भाषा, उस भाषा से भिन्न है जो बम्बई के बाजारों में बोली जाती है। कलकत्ता की बोलचाल की भाषा में बंगला के अधिक शब्द होते हैं। इसी प्रकार बम्बई की बोलचाल की भाषा में गुजराती के शब्द अधिक होते हैं। इस प्रकार

मे श्री रामनाथ 'सुमन' ने लिखा है—

"यह भाषा अन्तर्प्रांतीय यातायात, रेल, व्यापार और बड़े-बड़े उद्योग-धन्धो के खड़े हो जाने से बनी है। इसे किसी सस्था ने नही बनाया, न इसके बनाने मे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, हिन्दी-प्रचार-सभा या कागेस का हाथ है। यह भाषा उत्तर भारत (मुख्यत सयुक्तप्रान्त, मध्यभारत तथा बिहार) के उन गरीब प्रवासियो की राष्ट्र को देन है, जो गरीबी के कारण अपना घरबार छोडकर नौकरी की तलाश मे दूर-दूर के सूबो मे गये और वहाँ मेहनत-मजदूरी करके पेट पालने लगे। इनमे से किसी ने बोझा ढोने का काम किया, कुछ स्टेशनो पर कुली बने, कुछ आफिसो मे चपरासी बने, कुछ को मिलो, रेलो के कारखानो और दुकानो मे काम मिला। कुछ ने दरबानी की, कुछ पुलिस और ट्राम की नौकरी मे भरती हुए, कुछ इक्का-ताँगा हाँकने लगे। बहुतो ने ग्वाले, नाई, रसोई का काम सँभाला, और बहुतो ने छोटे-छोटे धन्धे अपनाये। ये शिक्षित न थे और जहाँ गये वहाँ अपनी बोली और रीति-रिवाज साथ ले गये। जिस हिन्दी के बारे मे यह कहा जाता है कि वह अधिकाश भारतीयो द्वारा समझी जाती है, वह यही सामान्य बोली है। इसका न कोई निश्चित व्याकरण है और न आजतक कोई पुस्तक इस भाषा मे लिखी गयी।"

अत यह स्पष्ट है कि भारत मे प्रचलित 'सामान्य भाषा' राष्ट्रभाषा नही है। जो ऐसा मानते है, वे भारी भ्रम मे है।

देश मे राष्ट्रीय जागृति के साथ-साथ राष्ट्रीय नेताओ ने राष्ट्रभाषा-निर्माण के प्रश्न को प्रस्तुत किया। उन्होने यह अनुभव किया कि भारत मे राष्ट्रीय नवचेतना और राष्ट्रीयता की भावना पैदा करने के लिए यह जरूरी है कि भारत के सभी प्रान्तो मे एकता स्थापित की जाये। एकता उसी समय स्थापित हो सकती है जब कि विचार-विनिमय के लिए एक अन्तर्प्रान्तीय भाषा हो। अग्रेजी भाषा ऐसी भाषा है जिसे सभी प्रातो मे पढा और बोला जाता है, पर वह स्कूलो और कालिजो के विद्यार्थियो तथा अग्रेजी पढे समुदायो तक ही सीमित है—जनता की भाषा नही

कहना शुरू कर दिया कि अब गाधीजी हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाकर उर्दू और मुसलिम सस्कृति का नाश कर देगे। अत गाधीजी ने इस नाम मे परिवर्तन करके इसे 'हिन्दुस्तानी' का नाम दिया। शायद ऐसा सोचा गया कि इस नाम से मुसलमानो को कोई आपत्ति न होगी। राष्ट्रीय मुसलमानो ने इस नाम को पसद किया और इसकी आड मे उन्हे उर्दू के प्रचार के लिए काफी गुजाइश मिल गयी। परन्तु मुस्लिम-लीग के कर्ता-धर्ता श्री मुहम्मदअली जिन्ना का विरोध और भी तीव्र होता गया।

जब भारत के ८ प्रान्तो मे काग्रेस की सरकारे बनी तब इन सरकारो द्वारा 'हिन्दुस्तानी' भाषा के प्रसार के लिए प्रयत्न किया गया। मद्रास, बम्बई और बिहार मे 'हिन्दुस्तानी' के प्रचार तथा प्रसार के लिए सरकारो की ओर से प्राथमिक कक्षाओ मे हिन्दुस्तानी भाषा का ज्ञान अनिवार्य कर दिया गया। मुस्लिम-लीग की ओर से इसका घोर विरोध किया गया।

हिन्दुस्तानी

'हिन्दुस्तानी' भाषा से अभिप्राय उस भाषा से है जिसे महात्मा गाधी उत्तरी भारत के हिन्दू और मुसलमानो की भाषा मानते है। तब केवल हिन्दी ही क्यो न कहा जाये जैसा कि आज से २३ वर्ष पहले गाधीजी ने कहा था।

उन्होने यह अनुभव किया है कि 'हिन्दुस्तानी नाम से हिन्दी-उर्दू का झगड़ा शान्त हो जायेगा। वह यह चाहते है कि हिन्दुस्तानी भाषा मे सस्कृत, अरबी या फारसी के अधिक शब्दो का प्रयोग नही किया जाये। उसमें हिन्दी और उर्दू के शब्दो को स्थान मिले तथा अन्य भाषाओ के चलते शब्दो का भी प्रयोग किया जाये। भाषा अत्यन्त सरल और बोलचाल की हो जिसे मामूली लोग भी समझ सके। 'हिन्दुस्तानी' भाषा नागरी और फारसी को दोनो लिपियो मे लिखा जा सकता है।

काग्रेसी शासन-काल मे बिहार, मद्रास, बम्बई मे हिन्दुस्तानी भाषा मे सरकार की ओर से प्राथमिक पाठशालाओ तथा प्रौढ़-पाठशालाओ मे

छात्रों व प्रौढ़ों के लिए हिन्दुस्तानी भाषा की शिक्षा अनिवार्य कर दी गयी। हिन्दुस्तानी भाषा में बिहार में सरकार के कांग्रेसी मन्त्री डा० सैयद महमूद ने प्रौढ़-शिक्षा के लिए हिन्दी-उर्दू में हिन्दुस्तानी भाषा की पुस्तकें तैयार करायीं। मद्रास में श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने हिन्दुस्तानी भाषा को अनिवार्य कर दिया। इसी प्रकार बम्बई में भी श्री बाल गंगाधर खेर ने हिन्दुस्तानी भाषा को समस्त स्कूलों में अनिवार्य कर दिया। कहीं-कहीं हिंदुस्तानी के नाम पर हिन्दी में संस्कृत भाषा के प्रचलित शब्दों को न अपनाकर उनकी जगह उर्दू-फारसी के बे-मौजूं शब्द जबर्दस्ती रखे गये, जिससे हिन्दीभाषी जनता में, खास तौर से बिहार और संयुक्तप्रान्त में, घोर असन्तोष उठ खड़ा हो गया।

यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना उचित है कि प्रत्येक भाषा का उसके बोलनेवालों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही नहीं, वह एक प्रकार से उनकी संस्कृति की निदर्शिका भी है। भाषा विचारों को व्यक्त करने का माध्यम है और विचारों का मूलाधार भी है। हम जिस भाषा का प्रयोग करते हैं, उसी भाषा में विचार भी करते हैं। इसलिए भाषा और विचारों का अटूट सम्बन्ध है। हिन्दी भाषा की जननी संस्कृत है और दूसरी कई प्रान्तीय भाषाओं की जननी भी संस्कृत ही है। संस्कृत भाषा में हिन्दूधर्म और संस्कृति सुरक्षित है, क्योंकि वेद, उपनिषद्, धर्म-शास्त्र, गीता, महाभारत, रामचरितमानस तथा प्राचीन साहित्य, नाटक और कथानक आदि सब संस्कृत में ही उपलब्ध हैं। इन्हीं ग्रंथों में आर्य-संस्कृति निहित है। इसलिए जो समाज जिस भाषा द्वारा इन ग्रन्थों का अवगाहन करेगा, उसपर आर्य-संस्कृति का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दी और उर्दू भाषाओं में मौलिक और महत्त्वपूर्ण अन्तर है। उर्दू अरबी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है और हिन्दी आर्य संस्कृति का। ये [illegible]। इन दोनों का [illegible] हिन्दुस्तानी [illegible] दोनों भाषाओं के लिए हानिकर है।

[illegible]

ाषा केवल इस प्रकार कृत्रिम रूप से बनायी हुई सरल और बोल-चाल ी भाषा नही हो सकती। राष्ट्रभाषा वही हो सकती है जिसमे राष्ट्र के ार्मिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन की ूख को तृप्त करनेवाली सुरुचिपूर्ण सामग्री प्रदान करने की क्षमता हो।

सुप्रसिद्ध बौद्ध लेखक श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन का यह मत र्वथा ग्राह्य और उपयुक्त है कि—

"अब हिन्दी कुछ वर्षो पहले की 'भाखा' नही रह गयी है। हम उसे पनी ऊँची से ऊँची शिक्षा का माध्यम बनाने चले है। हम जहां यह ाहते है कि वह काश्मीर से कन्याकुमारी तक समझी जाये, वहां यह ी चाहते है कि उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म, जटिल से जटिल, अर्वाचीन से र्वाचीन भावो को प्रकट करने का सामर्थ्य आ जाये। हम चाहते है कि उसमें न केवल समुद्र-सा फैलाव हो, बल्कि उसकी गहराई भी हो। अब श्न यह है कि आज के ससार में जितने और जैसे गभीर विषयो का अध्ययन हो रहा है, जब हमें हिन्दी में उन सभी विषयो पर ग्रथ देखने की लालसा है, तो क्या वे ग्रन्थ उसी भाषा में लिखे जा सकते हैं जिसे, गुस्ताखी माफ हो तो, हम बाजारू भाषा कहे, तो कोई हर्ज नही। हिन्दुस्तान में एक राष्ट्रभाषा है जिसे पेशावर से लेकर मद्रास तक रेलवे स्टेशनो पर हम उस समय बोलते है जब हमें कुलियो से निबटना होता है। अब क्या उस तरह की भाषा में किसी शास्त्रीय विषय की चर्चा की जा सकती है? आपसे यदि कोई कहे कि आप प्रसिद्ध गणितज्ञ आइन्स्टाइन के 'सापेक्ष-वाद' पर एक पुस्तक लिखें जिसमें न सस्कृत के शब्द हो और न अरबी फारसी के, तो क्या आप लिख सकेंगे? आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद को जाने दीजिए—कहते है उसे अध्यापन-ससार में केवल दो-तीन आदमियो ने ही ठीक तरह समझा है—अपने ही दर्शन-शास्त्र पर आप कुछ भी लिख सकते है? यदि नहीं, तो जब हमें अपने इतिहास की कुछ गहरी व्याख्या करनी होगी, जब हमें ससार के भौतिक भूवृत्त की कुछ बातें समझनी-समझानी होगी, जब ऊँचे दर्जे के विद्यार्थियो के लिए शास्त्रीय ढग की पुस्तकें लिखनी लिखानी होगी, तब किसी ऐसी राष्ट्रभाषा से, जिसमें न

संस्कृत के शब्द हों और न फारसी के, हमारा काम नहीं चल सकता। हमें न केवल पारिभाषिक शब्दों के लिए, बल्कि ऐसे शब्दों के लिए भी जो हमारे गहरे चिंतन के यथार्थ प्रतिबिम्ब हो सकें, संस्कृत अथवा अरबी की शरण लेनी होगी।"

अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के शिमला-अधिवेशन में सभापति-पद से हिन्दी के विद्वान और अनुभवी पत्रकार श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर ने भी राष्ट्रीय भाषा के सम्बन्ध में अपने अभिभाषण में कहा था—

"मौलाना अबुल कलाम आज़ाद जिसे सर्वप्रान्तीय व राष्ट्रीय भाषा बनने की अधिकारिणी समझते हैं वही यदि यह 'हिन्दुस्तानी' है तो मैं निःसंदिग्ध चित्त से साहित्य-सम्मेलन को सलाह दूंगा कि वह निर्भीकता के साथ स्पष्ट शब्दों में इसका विरोध करे।...हिन्दुस्तानी के नाम पर यह जो अनर्थ हो रहा है, उससे केवल हिन्दी की ही नहीं बल्कि भारतीय संस्कृति की रक्षा करने के लिए मैं कहता हूं कि हमारी राष्ट्रभाषा का नाम हिन्दी होना चाहिए और उसकी प्रवृत्ति भी हिन्दी यानी हिन्द की होनी चाहिए।"

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और राष्ट्रभाषा

उपरोक्त विवाद पर निर्णयात्मक विवेचन करने के लिए इस झगड़े के मूल को देखना होगा। महात्मा गांधी के सभापतित्व में इंदौर में होनेवाले हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के चौबीसवें अधिवेशन में राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में यह निर्णय हुआ था—

"इस सम्मेलन को मालूम हुआ है कि राष्ट्रभाषा के स्वरूप के संबंध में हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में कुछ ग़लतफ़हमी फैली हुई है और लोग उसके लिए अलग-अलग राय रखते हैं। इसलिए यह सम्मेलन घोषित करता है कि राष्ट्रभाषा की दृष्टि से हिन्दी का वह स्वरूप मान्य समझा जाये जो हिन्दू-मुसलमान आदि सब धर्मों के ग्रामीण और नागरिक व्यवहार करते हैं, जिसमें रूढ़ सर्व-सुलभ अरबी, फारसी, अंग्रेजी या संस्कृत शब्दों या मुहाविरों का बहिष्कार न हो और जो नागरी या उर्दू

लिपि में लिखी जाती हो।'

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के शिमला-अधिवेशन मे सम्मेलन की नियमावली मे सशोधन किये गये और १९ सितम्बर सन् १९३८ को सशोधित नियमावली के अनुसार उद्देश्य धारा २ (क) और (ख) मे इस प्रकार निर्धारित किया गया—

"(क) हिन्दी-साहित्य के सब अगो की पुष्टि और उन्नति का प्रयत्न करना,

(ख) देशव्यापी व्यवहारो और कार्यों को सुलभ करने के लिए राष्ट्रलिपि देवनागरी और राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार बढानेका प्रयत्न करना,

(ग) हिन्दी भाषा को अधिक सुगम, मनोरम, व्यापक और समृद्ध बनाने के लिए समय-समय पर उसके अभावो को पूरा करना और उसकी शैली और त्रुटियो के सशोधन का प्रयत्न करना।"

यद्यपि सम्मेलन के उद्देश्यो मे 'हिन्दी राष्ट्रभाषा' का उल्लेख है— उसमे 'हिन्दुस्तानी' का उल्लेख नही है, तथापि इदौर के उपर्युक्त निश्चय मे 'हिन्दुस्तानी' शब्द न होते हुए भी 'हिन्दुस्तानी' का स्वरूप वही विद्यमान है जिसे आज महात्मा गाधी 'हिन्दुस्तानी' कहते है।

इन्दौर-सम्मेलन के बाद 'हिन्दुस्तानी' भाषा का प्रचार बढता रहा। जुलाई सन् १९३७ मे जब काग्रेस मन्त्रि-मण्डलो ने शासन-भार सँभाला तब हिंदुस्तानी प्रान्तीय सरकारो द्वारा भी स्वीकार कर ली गयी। हिन्दी साहित्यिको के सामने 'हिन्दुस्तानी' का व्यवहार्य स्वरूप 'रीडरो' मे आया तो हिन्दी-साहित्य-सेवियो को उसे देखकर घोर निराशा हुई और उसका फल यह हुआ कि पत्र-पत्रिकाओ द्वारा उसका घोर विरोध किया जाने लगा। सितम्बर १९३८ के शिमला-अधिवेशन मे 'आज' के यशस्वी विद्वान् सपादक तथा सम्मेलन के अध्यक्ष श्री बाबूराव विष्णु पराडकर ने अपने भाषण मे विचारपूर्वक हिन्दुस्तानी भाषा की आलोचना की और उसका विरोध करने के लिए सम्मेलन को सलाह भी दी। सम्मेलन के इस अधिवेशन मे हिन्दी भाषा को सुगम बनाने के सम्बन्ध मे जो निश्चय किया गया वह इस प्रकार है—

"इस सम्मेलन के विचार में हिन्दी के आधुनिक साहित्य-निर्माण के

लिए ऐसी भाषा उपयुक्त है जिसका परम्परागत सम्बन्ध सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश भाषाओ से है जिसकी शक्ति कबीर, तुलसी, सूर मलिकमुहम्मद जायसी, रहीम, रसखान और हरिश्चन्द्र की कृतियो से आयी है, जिसका मूलाधार देशी और तद्भव शब्दो का भण्डार है, और जिसके पारिभाषिक शब्द प्राकृत अथवा सस्कृत के क्रम पर ढाले गये हैं किन्तु जिसमें रूढ, सुलभ और प्रचलित विदेशी शब्दों का भी स्थान है।"

पहले दिये गये इन्दौर-सम्मेलन और शिमला-सम्मेलन के निश्चयों में मौलिक अन्तर है। इन्दौर के निश्चय के अनुसार 'हिन्दी का वह स्वरूप मान्य है जिसे हिन्दू-मुसलमान आदि सब धर्मों के ग्रामीण और नागरिक व्यवहार करते हैं।'

और शिमला के निश्चय के अनुसार 'हिन्दी के आधुनिक साहित्य-निर्माण के लिए ऐसी भाषा उपयुक्त है जिसका परम्परागत सम्बन्ध सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश भाषाओ से है, जिसकी शक्ति हिन्दी के प्राचीन कवियो तथा साहित्यकारो की रचनाओ से आयी है।'

ये दोनो निश्चय परस्पर-विरोधी हैं। पर धीरे-धीरे सम्मेलन में हिन्दुस्तानी-विरोधी तत्त्व का बहुमत होता गया। अपने पिछले पूना-अधिवेशन मे उसने इस बात को कुछ-कुछ स्पष्ट कर दिया है। पूना का प्रस्ताव यह है—

"सम्मेलन की नियमावली के नियम (ग) मे आये हुए 'राष्ट्रभाषा' शब्द के स्पष्टीकरण के लिए सम्मेलन के इन्दौरवाले अधिवेशन का जो निश्चय दिया गया है, उसका निम्नलिखित रूप हो—

'इस सम्मेलन को मालूम हुआ है कि राष्ट्रभाषा के स्वरूप के सम्बन्ध मे हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे कुछ गलतफहमी फैली हुई है और लोग उसके लिए अलग-अलग राय रखते हैं। इसलिए यह सम्मेलन घोषित करता है कि राष्ट्रभाषा की दृष्टि से हिन्दी का वह स्वरूप मान्य समझा जावे जो हिन्दू, मुसलमान आदि सब धर्मों के ग्रामीण और नागरिक व्यवहार करते हैं, जिसमें रूढ, सर्वसुलभ अरबी, फारसी, अंग्रेजी या संस्कृत शब्दो या मुहाविरो का बहिष्कार नहीं होता और

जो साधारण रीति से राष्ट्रलिपि नागरी मे तथा कहीं-कहीं फारसी लिपि में भी लिखा जाता है।'

राष्ट्रभाषा के नाम और स्वरूप का विवाद अतत इतना तीव्र और स्पष्ट हो गया कि अबोहर सम्मेलन के सभापति का चुनाव ही इसी प्रश्न को लेकर हुआ और उसमे हिन्दुस्तानी पक्ष की हार हुई।

भारतीय साहित्य-परिषद् और 'हिन्दी हिन्दुस्तानी'

देश की सब भाषाओं के साहित्यिकों मे विचार-विनिमय के सम्बन्ध में सगठन करने के विचार से सन् १९३५ मे इन्दौर के अधिवेशन मे निम्नलिखित मन्तव्य प्रकाशित हुआ—

"देश की प्रान्तीय भाषाओ के साहित्यिकों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने तथा हिन्दी भाषा की वृद्धि में उनका सहयोग प्राप्त करने के अभिप्राय से यह सम्मेलन निम्नलिखित सज्जनो की एक समिति बनाता है और उसको अधिकार देता है कि वह अपने साथ अन्य सज्जनो को आवश्यकतानुसार सम्मिलित कर ले।"

इस निश्चय के अनुसार जो भारतीय साहित्य परिषद् बनी, उसके सयोजक सुप्रसिद्ध गुजराती साहित्यकार श्री कन्हैयालाल मुन्शी थे। नागपुर मे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन के अवसर पर परिषद् का पहला अधिवेशन हुआ। भारतीय साहित्य-परिषद् के कार्य के लिए किस भाषा का प्रयोग किया जाये और उसका नाम क्या हो—यह प्रश्न उठा। इसने ऐसी भाषा के लिए महात्मा गाधी की राय से 'हिन्दी हिन्दुस्तानी' नाम स्वीकृत किया। पर खेद है कि भारतीय साहित्य-परिषद् का काम अधिक दिनो नहीं चल सका।

राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति और हिन्दुस्तानी

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के नियम ३८ के अनुसार अहिन्दी-भाषी प्रान्तो मे राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार के लिए २१ सदस्यो की एक प्रचार-समिति है जो राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति कहलाती है। इसका कार्य असम, बगाल, उत्कल, सिन्ध, पश्चिमोत्तर-प्रदेश, गुजरात, बम्बई, महाराष्ट्र

जैसा कि लिखा जा चुका है दोनो दलो का झगडा मूल मे राष्ट्र-भाषा के नाम और स्वरूप पर है। काका कालेलकर तथा उनके समर्थको का जोर राष्ट्रभाषा को

(१) 'साहित्यिक हिन्दी' या 'उर्दू-ए-मुअल्ला' बनाने पर नही है और

(२) उसे वे काग्रेस द्वारा किया स्वीकृत 'हिन्दुस्तानी' नाम से ही पुकारना राष्ट्र के लिए हितकर मानते है।

दूसरी ओर उत्तरभारत के हिन्दीभक्त उसे

(१) 'सस्कृत, प्राकृत के क्रम पर' ढालना चाहते है और

(२) उसे वे 'हिन्दी' नाम से ही पुकारना चाहते है।

इस बार जो हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अबोहर-अधिवेशन के चुनाव में सघर्ष रहा, वह इसी मतभेद का लक्षण था। अबोहर के अधिवेशन मे जो मत बहुमत मे है वह अवश्य अपने निर्णय को कडे से कडे शब्दो मे प्रकट करेगा, ऐसी सम्भावना है।

परन्तु राष्ट्रभाषा का प्रश्न अकेले हिन्दीवालो का ही नही है उसे अखिल भारतीय दृष्टि से देखना चाहिए। हमारी दृष्टि मे भाषा की पवित्रता जैसी कोई चीज है ही नही। आधुनिक हिन्दी मे कई विदेशी भाषाओ (पुर्तगाली, फ्रेच, अग्रेजी) के शब्द इस बुरी तरह से मिल गये है कि उन्हे निकालना मुश्किल है। इसी प्रकार देशभाषाओ के शब्द भी मिलेगे। हाँ, यह मिलावट बलात् नही होनी चाहिए। भाषा 'बलात्कार' को सहन नही कर सकती। वह अन्य भाषा के शब्दो से मधुर समन्वय ही कर सकती है जिसे कोई नही रोक सकता।

राष्ट्र-लिपि की समस्या

महात्मा गाधी और राष्ट्रीय महासभा देवनागरी और उर्दू दोनो लिपियो को राष्ट्र-लिपि स्वीकार करने के पक्ष मे है। देश का सबसे विशाल जन-समुदाय देवनागरी लिपि को पसन्द करता है। सन् १९३१ की जन-सख्या के अनुसार प्रति १० हजार मनुष्यो में ४,०५६ मनुष्य देवनागरी-लिपि मे लिखी जानेवाली भाषाएँ व्यवहार मे लाते है।

जो लिखा जाता है वही पढ़ा जाता है और जो पढ़ा जाता है, वही लिखा जाता है।

साहित्य

संसार में सबसे प्राचीन आर्य जाति है और इसी कारण सबसे प्राचीन आर्य-संस्कृति तथा साहित्य है।

पाश्चात्य विद्वानों ने मुक्तकंठ से यह स्वीकार किया है कि आर्य-संस्कृति तथा साहित्य संसार में सबसे प्राचीन है। सृष्टि के आदि में परमात्मा ने चार ऋषियों को जो अपना ज्ञान दिया, वह वेद के नाम से प्रसिद्ध है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है। उसकी रचना किसी मानव ने नहीं की। इसीलिए वह अनादि है और उसका नाश भी नहीं होता। वैदिक युग में ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा सामवेद—इन चार वेदों का ही आदर था और जन-समाज इनके अनुसार ही अपने जीवन को बनाने का प्रयत्न करता था। ये चार वेद ही वैदिक काल का साहित्य, धर्म-पुस्तक और कला-कृति थे। सामवेद का ऋषिगण गायन करते थे। उसे संगीत का जन्मदाता कहा जाता है।

कुछ काल के बाद इन वेदों की ऋषियों-मुनियों ने व्याख्याएँ करना शुरू किया। अतः उपनिषदों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना हुई। इसके बाद दर्शन-शास्त्रों की रचना की गयी। इस युग का जो साहित्य आज उपलब्ध है वह आध्यात्मिक-धार्मिक ही है। उस समय भारतीय कला का विकास कैसा हुआ था इसका आज कोई प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नहीं है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के निर्माण के समय जनता की रुचि, कला-कृति तथा सरस साहित्य की ओर होने लगी। जनता काव्य और कविता में आनन्द लेने लगी। उस समय जन-समाज की मातृभाषा संस्कृत थी। अतः इस काल के ग्रन्थों का निर्माण संस्कृत में किया गया। सबसे प्राचीन काव्य-ग्रन्थ जिसका वर्णन इतिहास में आज उपलब्ध है, महर्षि वाल्मीकि की 'रामायण' है।

'रामायण' की रचना के बहुत वर्षों के पश्चात् महर्षि व्यास ने जय काव्य की रचना की। इसमें महाभारत का काव्यमय वर्णन है। पीछे से इसी ग्रन्थ का नाम महाभारत प्रसिद्ध होगया।

भरत-मुनि ने नाटच-शास्त्र की रचना की। इस ग्रन्थ मे भारतीय नाटच-कला के सिद्धान्त बताये गये है। नाटक के लिए उपयोगी तथा आवश्यक सभी बातो पर इसमें प्रकाश डाला गया है। सबसे पहला नाटक भास कवि ने इसी ग्रन्थ के सिद्धान्तो के अनुसार लिखा।

ईसा की पाँचवी शताब्दी में महाकवि कालिदास का जन्म हुआ। कालिदास सस्कृत के महाकवि थे और वाल्मीकि के बाद वही सबसे महान् कवि माने गये है। आज ससार मे कालिदास की कला-कृतियो का जो आदर और सन्मान है, वह इसीलिए है कि उन्होंने ऐसे अमर साहित्य की सृष्टि की जो युगो तक जनता के हृदय को प्रभावित करता रहेगा।

महाकवि कालिदास के अतिरिक्त और भी कई प्रसिद्ध काव्यकार हुए जिनकी अमर कृतियो के कारण आज सस्कृत-साहित्य ससार की भाषाओं के सम्मुख खडा हो सकता है और सस्कृत भाषा में ऐसे रत्न भरे पडे है जिनके कारण वह विश्व-साहित्य मे उच्च स्थान प्राप्त कर सकती है।

हिन्दी-साहित्य

बौद्ध-काल तक भारत मे साहित्य-रचना की भाषा और सभवत जनता की मातृभाषा सस्कृत रही। परन्तु बौद्ध-काल मे पाली भाषा का अधिक प्रचार हो गया। इसी कारण इस युग की बौद्ध-साहित्यिक तथा धार्मिक कृतियां पाली भाषा में मिलती है। पाली भाषा के बाद भारत में प्राकृत भाषा का अधिक प्रचार बढा। परन्तु जबसे भारत मे विदेशी आक्रमणकारियों ने प्रवेश आरम्भ किया तबसे यहाँ की भाषाविषयक एकता भग हो गयी और प्रान्तीय भाषाओं का जन्म होने लगा। ११वीं या उसके शताब्दी मे आस-पास ही हिन्दी, उर्दू, बगला, गुजराती, तामिल, तेलगू, मलयालम और मराठी आदि भाषाओं का विकास हुआ।

हिन्दी-साहित्य का इतिहास सन् ११९१ मे आरम्भ होता है जब कवि चन्दवरदाई ने 'पृथ्वीराज रासो' नामक काव्य की रचना की। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य आज ९०० वर्षों से उत्तरी भारत की जनता मे अपना गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करता रहा है। आज हिन्दी का साहित्य अन्य समस्त भारतीय भाषाओ के साहित्य मे सर्वश्रेष्ठ है। एक युग था जब बगला-साहित्य भारतीय साहित्य मे सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। परन्तु शरच्चन्द्र तथा रवीन्द्रनाथ के युग के समाप्त हो जाने पर उसने कोई प्रगति नही की।

हिन्दी-साहित्य सदा प्रगतिशील रहा है और आज भी वह प्रगति के पथ पर है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी 'रामचरितमानस' जैसी अमर कृति से हिन्दी को सदैव के लिए उच्च आसन पर बिठा दिया। 'रामचरित-मानस' वास्तव में ऐसी उच्चकोटि की कला-पूर्ण रचना है जिसमे सम्पूर्ण मानव-जीवन की बडी सरस व्याख्या की गयी है। उसमे राम के प्रति गोस्वामीजी ने भक्ति की जैसी मनोहर अभिव्यक्ति की है वैसी किसी भी साहित्य मे मिलना दुर्लभ है, साथ ही उन्होने जनता के हृदय को भी बडी मार्मिकता के साथ स्पर्श किया है। वह जनता का अपना साहित्य है। आज भारतवर्ष मे 'रामचरितमानस' का बडा आदर है और उसकी चौपाइयाँ एक अपढ किसान के मुख से भी सुनायी पडती है। हिन्दी-साहित्य का यह सबसे लोकप्रिय काव्य है। अन्य भाषाओ मे भी तुलसीदास की इस अमर कृति का अनुवाद हो गया है।

आधुनिक काल मे श्री मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी के सबसे बडे कवि है। उनकी रचनाएँ जनता में सबसे अधिक लोकप्रिय है। श्री सुमित्रानन्दन पन्त, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', श्री रामकुमार वर्मा, श्री महादेवी वर्मा आदि हिन्दी काव्य-जगत की आधुनिक भावना-धारा के प्रतिनिधि कवि है। इनकी कविताएँ विश्व-साहित्य मे स्थान पाने योग्य है।

उपन्यास-क्षेत्र मे प्रेमचन्द ने जैसा नाम पाया है वैसा हिंदी के किसी दूसरे लेखक ने नही पाया। प्रेमचन्द हिन्दी-ससार की एक मूल्यवान् निधि है। उन्होने अपने उपन्यासो तथा कहानियो के द्वारा हिन्दी-साहित्य को

जो रत्न प्रदान किये हैं, उनसे वह तो गौरवान्वित हुआ ही है, उससे विश्व-साहित्य को भी एक मूल्यवान् दान मिला है।"

हिन्दी-साहित्य में श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने नवीन नाटकों की रचना करके यह सिद्ध कर दिया है कि हिन्दी नाटक आधुनिक नाट्य-कला में किसी भी भाषा के साहित्य से पीछे नहीं है। उन्होंने अपनी नाट्य-कला के द्वारा भारतीय आर्य-संस्कृति तथा कला का जो पुनरुज्जीवन किया है, वह उनकी साहित्य और समाज को एक स्थायी देन है।

बंगला-साहित्य के श्री बंकिमचन्द्र, श्री शरत्चन्द्र और श्री रवीन्द्रनाथ अमर रत्न हैं। यदि बंगला-साहित्य में कुछ भी न रहे तो भी रवीन्द्रनाथ उसे अमर बनाने के लिए काफी हैं। डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर आज इस संसार में नहीं हैं और उनका युग भी बीत चुका, परन्तु उन्होंने जिस रस-दुनिया का निर्माण किया है वह विश्व-साहित्य की अमर धरोहर है। संसार भर में उनका मान है। वे बंगला के ही महाकवि, नाटककार और उपन्यासकार नहीं थे, प्रत्युत इस युग के सबसे महान् कवि थे। वे मानवता के महान् उपासक और आत्म-स्फूर्ति के आराध्य थे।

गुजराती-साहित्य, मराठी-साहित्य तथा तामिल-तेलगू और अन्य साहित्य ने भी बड़ी उन्नति की है। पर स्थानाभाव से यहाँ इनके साहित्य का विवेचन अपेक्षित नहीं है।

कला

भारतीय कला के आदर्श

आज भारतवर्ष मे, साहित्यिक जगत मे एक युग से, आदर्शवाद तथा यथार्थवाद को लेकर एक बडा वाद-विवाद खडा हो गया है। कला मे यथार्थ का चित्रण होना चाहिए—ससार को हम जैसा देखते है,उसका ज्यो का त्यो चित्रण ही कला है, ऐसा यथार्थवादी का मत है। दूसरी ओर आदर्शवादी का मत यह है कि ससार मे बुराई-भलाई सभी को हम देखते है, परन्तु यह सभी यथार्थ नही—सत्य नही। इसलिए हमे जो वास्तव मे सत्य है—आदर्श है, उसीका चित्रण करना चाहिए। एक मत के अनुसार कला मे इन दोनो का समन्वय ही उचित मार्ग है।

यहाँ इन दोनो वादो की समीक्षा अभिप्रेत नही है। हमे तो यह देखना है कि ये दोनो वाद भारतीय-कला के आदर्शों के कहाँ तक अनुकूल है। यह हम ऊपर ही कह चुके है कि भारत मे कला का उद्देश्य अन्य देशो की कला-साहित्य की अपेक्षा भिन्न है। भारतीय और विशेषत आर्य-जीवन का लक्ष्य है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार फलो की प्राप्ति। इन्ही को धार्मिक भाषा मे पुरुषार्थ कहा गया है। मानव-जीवन का लक्ष्य है इन चारो की सिद्धि। बस इसी चरम लक्ष्य को दृष्टि मे रखकर समस्त भारतीय साहित्य तथा कला का निर्माण हुआ है। इस प्रकार कला, भारतीय की दृष्टि मे, पाश्चात्य देशो की तरह, मनोरजन का साधन नही है, प्रत्युत वह जीवन को मुक्ति-बधन से मोक्ष की ओर ले जाने का एक मार्ग है—साधन है। जिस प्रकार योग-साधना द्वारा मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न किया जाता है, उसी प्रकार साहित्य-साधन और कला की उपासना द्वारा भी ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है।

भारतीय आर्य साहित्य मे बधन से मुक्ति की ओर जाने के लिए जो भावना ओतप्रोत है, उसका हमारे धार्मिक सिद्धातो से गहरा सबध है। ससार भर मे आर्यों (हिन्दुओ) के सिवा शायद और कोई जाति पुनर्जन्म तथा कर्म-फल के सिद्धान्तो मे विश्वास नही करती। पाश्चात्य देशो मे तो इसी जन्म मे मनुष्य को भोग-विलास का जीवन बिताकर अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करनी है। उनकी जनता का परलोक-जीवन

ही अवांछनीय प्रभाव जनता के हृदय पर पडा है—वह यह कि आज समाज मे यदि किसी ब्राह्मण की उच्च स्थिति है, तो वह उसके अपने कर्मों के कारण है और यदि आज किसी दीन-दलित जन की दुर्दशा है तो वह उसके कर्मों का फल है। इसलिए समाज की जैसी स्थिति विद्यमान है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। यदि आज नारी-जाति की हीन दशा है, तो वह उनके कर्मों का फल है, यदि आज मजदूर पूंजीपतियों के अत्याचारों के शिकार हैं तो अपने प्रारब्ध के कारण, और यदि आज किसान-वर्ग पीड़ित है तो अपने कर्मों के फल से। इस प्रकार की विचारधारा ने भारतीय समाज का बडा अनिष्ट किया है और जनता मे भाग्यवाद तथा नैराश्य को जन्म देकर उसे अपग और शक्तिहीन बना दिया है। प्रत्येक सुधार-आन्दोलन मे इस विश्वास ने बडी ठेस पहुँचायी है।

यह विश्वास सर्वथा गलत है। मनुष्य के कर्मों का फल मिलता है, परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता नहीं है। मनुष्य वर्तमान् में जो कार्य करता है, वही आगे उसके प्रारब्ध-कर्म बन जाते हैं। इसलिए समाज मे प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से सुयोग मिलना चाहिए जिससे वह अपना प्रारब्ध-निर्माण भली भाँति कर सके।

आधुनिक भारतीय साहित्य पर समाजवादी विचारधारा, गाधीवादी आदर्शवाद तथा डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रहस्यवादी विचारधारा का गहरा प्रभाव पडा है। इस युग के साहित्य की विशेपताएँ निम्नलिखित हैं

(१) राष्ट्रीय जीवन की भाति साहित्य मे भी स्वातन्त्र्य-प्रियता का दर्शन हमे मिलता है। कविता को छन्द-शास्त्र के बन्धन मुक्ति के प्रयत्न में भी यह स्वाधीनता-प्रेम ही है।

(२) साहित्य आज किसी एक वर्ग की आकाक्षा की पूर्ति का साधन नहीं रहा है। वह अब जनता का साहित्य बन गया है। उसमे नैतिकता व लोक-कल्याण की भावना की प्रतिष्ठा फिर से नये ढग से हो रही है।

(३) आज का साहित्य जीवन के अधिक निकट हो गया है और उसमे

सुन्दर रूप धारती है और उसे वैसा ही चित्रित करती है। इसलिए कवि पहले योगी और मनस्वी है, क्योंकि उसका रूप का जन्म ध्यान, योग और साधना के द्वारा ही सम्भव है।

सगीत-कला

प्राचीन काल मे सगीत-कला का भारत मे बडा प्रचार था। ऋषि-गण यज्ञ तथा अन्य उत्सवो पर साम-गान से जनता का मनोरजन करते थे। सामवेद को सगीत का आदि-स्थान माना जाता है। ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी मे भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र की रचना की। यह नाट्य-शास्त्र ही भारतीय सगीत पर सबसे पुराना ग्रथ है जो आज प्राप्य है। नाट्य-शास्त्र मे मुख्यत नाटको के सिद्धान्तो पर प्रकाश डाला गया है, परन्तु इसमे सगीत-कला के विषय मे भी विवेचन किया गया है। इसके बाद १३वी शताब्दी मे काश्मीर के शारगदेव ने 'सगीत-रत्नाकर' नामक ग्रथ लिखा। सगीत-कला पर यह बडी प्रामाणिक पुस्तक है और उस समय से अबतक सगीतज्ञो तथा सगीताचार्यो ने इससे प्रेरणा प्राप्त की है। चौदहवी सदी मे लोचन कवि ने राजतरगिनी की रचना की। यह भी सगीत-कला की मीमासा करती है। अकबर के शासन-काल मे खानदेश मे पुडरीक विट्ठल का जन्म हुआ। उन्होने सद्राग-चन्द्रोदय, रागमाला, रागमजरी और नर्तन-निर्णय ग्रन्थ लिखे। सत्रहवी शताब्दी मे अहोबल ने 'सगीत-पारिजात' की रचना की। इसी काल मे गौड देश के राजा महाराजा हृदयनारायण देव ने भारतीय सगीत पर 'हृदय-प्रकाश' नामक एक बडी उत्तम पुस्तक लिखी। शाहजहा के शासन-काल मे भाव भट्ट ने सगीत पर तीन पुस्तके लिखी—अनूपसगीतरत्नाकर, अनूपकुपा और अनूप-विलास। इसके बाद हमे इस कला पर कोई रचना प्राप्त नही होती। आधुनिक काल मे श्री वी० एन० भातखण्डे ने सस्कृत मे दो ग्रन्थ सगीतशास्त्र पर लिखे है—लक्ष्य सगीतम् और अभिनव रागमजरी। ये दोनो भारतीय सगीत पर अन्तिम ग्रन्थ है। इसके बाद कोई भी ग्रन्थ नही लिखा गया।

मेघ	वर्षा	श्रावण-भाद्रपद
भैरव	हेमन्त	आश्विन-कातिक
श्री	हेम	अगहन-पौष
मालकोश	शिशिर	माघ-फाल्गुन

सगीतज्ञो ने एक दिन-रात्रि को एक वर्ष मानकर सगीत के लिए उसका ६ ऋतुओ मे विभाजन किया है। इस प्रकार प्रत्येक काल-भाग के लिए भी एक-एक राग निर्धारित किया गया है—

भैरव	प्रात ४ बजे से ८ बजे तक,
हिंडोला	प्रात ८ से १२ तक,
मेघ	मध्याह्न-काल १२ से ४ तक,
श्री	सायकाल ४ से ८ तक,
दीपक	रात्रिकाल ८ से १२ तक,
मालकोश	मध्यरात्रि १२ से प्रातःकाल ४ तक,

भारतवर्ष मे प्राचीन काल से दो प्रकार का सगीत प्रचलित है—मौखिक (vocal) और वाद्य-यन्त्र द्वारा (Instrumental music)। तबला सितार, वीणा, हारमोनियम, जल-तरग, सरोज, पखावज, वायलिन आदि वाद्य-यन्त्रो द्वारा गायन किया जाता है। आधुनिक समय मे सगीत-कला के पुनरुज्जीवन तथा उसके प्रचार मे दो महानुभावो ने सबसे अग्रगण्य भाग लिया। वे है महाराष्ट्र के सगीताचार्य प० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर और सगीत-कला-विशारद श्री भातखण्डे।

प्राचीन प्रणाली के सगीत मे बम्बई के सगीत-समर्थ श्री अल्लादिया खाँ और श्री फैयाज खाँ है। लाहौर के प्रो० दिलीपचन्द वेदी भारत के सर्वश्रेष्ठ ख्याल-गायक है। प्रो० नारायणराव व्यास तथा श्री वी० एन० पटवर्धन प्राचीन सगीत के आचार्य है। उस्ताद अल्लाउद्दीन खा भारत मे सर्वश्रेष्ठ सरोद-गायक है। तबला मे आबिदहुसैन अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कला-विशारद है। इलाहाबाद के श्री गगनचन्द्र चट्टोपाध्याय, जो गगनबाबू के नाम से प्रसिद्ध है, वायलिन के सर्वश्रेष्ठ गायक है।

इस प्रकार आज भारत मे सगीत कला के पुनरुज्जीवन के लिए जो

नृत्य की परम्परा को कायम रखने मे एक सीमा तक योग दिया ।

देश मे राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन और राजनीतिक नवचेतना मे स्फूर्ति पाकर कला-प्रेमियो ने सगीत तथा नृत्य-कला के पुनरुज्जीवन के लिए फिर से प्रयत्न किया । १०-१५ वर्षों मे ही इस क्षेत्र मे कलाकारो ने वडे मनोयोग से कार्य किया है । जिसका फल आज प्रत्यक्ष दीख पडता है । आज नृत्यकला का सगीत से भी कही अधिक आदर है । वडे-वडे सुसस्कृत तथा सभ्य परिवारो की कुमारिकाएँ, वालिकाएँ और स्त्रियाँ आज नृत्य-कला को सीख रही है ।

भारतीय नृत्य के तीन भेद है —(१) नाट्य (२) नृत्य और (३) नृत्त ।

नाट्यमे नर्तक या नर्तकी रगमच पर नाटक के अन्य पात्रो के साथ नृत्य करता या करती है । नृत्य मे राग, ताल और भाव तीनो की आवश्यकता होती है, परन्तु उसमे भाव का ही प्राधान्य होता है । और इसमे नर्तक या नर्तकी ऐतिहासिक या पौराणिक काल के किसी वीर नायक या नायिका के जीवन की किसी सामान्य घटना को अभिव्यक्त करता या करती है । नृत्य मे ताल की प्रधानता होती है । स्वर और ताल के साथ नाचना पडता है । नृत्त दो प्रकार का होता है—(१) ताण्डव (२) लास्य । शिवजी के नृत्त को ताण्डव तथा पार्वती के नृत्त को लास्य कहा जाता है । इसी कारण पुरुष ताण्डव करते है और स्त्रियाँ लास्य करती है ।

नृत्य मे भाव, रस, राग, ताल और अभिनय होता है । नर्तक मे जो भाव होते है वह उन्हे किसी न किसी रस द्वारा स्वर और ताल के साथ अपने अभिनय द्वारा व्यक्त करता है ।

भावो का अभिनय चार प्रकार से किया जाता है—(१) आगिक (२) सात्विक (३) वाचिक और (४) वाह्य ।

१ आगिक अभिनय मे नर्तक मुद्रा-प्रदर्शन अर्थात् अगो और विशेष रूप से हाथो के सकेतो द्वारा भाव प्रदर्शन करता है ।

२. सात्विक अभिनय मे नर्तक आँसू, कपन, स्वरभेद, भय, मूर्च्छा, मुस्कान, आदि शारीरिक अवस्थाओ के द्वारा भाव प्रदर्शन करता है ।

३ वाचिक अभिनय में शब्द या ध्वनि द्वारा भाव-प्रदर्शन किया जाता है।

४ आहार्य अभिनय में वस्त्रालंकार तथा अन्य अस्त्र-शस्त्रों द्वारा प्रदर्शन किया जाता है।

भारतवर्ष में आजकल दो प्रकार के नृत्य सबसे अधिक प्रचलित हैं—कथक और कथाकली। कथक लास्य नृत्त है और कथाकली ताण्डव।

कथक नृत्य

इस नृत्य में नृत्य लय और ताल में बँधा होता है। इस नृत्य में अधिकांश में शृंगार रस से परिपूर्ण मनोभावों की अभिव्यक्ति की जाती है। नृत्य में पग, हस्त, गर्दन, भवें, और श्वास एक दूसरे से मिलकर तान में चलते हैं। उत्तरी भारत में इस नृत्य का अधिक प्रचार है।

कथाकली-नृत्य

इस नृत्य का दक्षिण भारत और विशेष रूप से केरल प्रान्त में बड़ा प्रचार है। परन्तु यह अब समस्त भारत में लोकप्रिय हो गया है। इस नृत्य में मुद्रा के प्रदर्शन द्वारा नृत्य किया जाता है। इसमें हाथ, हथेली और उँगलियों के भिन्न संकेतों द्वारा भावों का प्रदर्शन किया जाता है। एकाकी कर-मुद्राएं और संयुक्त-कर-मुद्राएँ कुल ६० हैं जिनका नृत्य में प्रयोग किया जाता है। इन दोनों प्रकार की कर मुद्राओं द्वारा ५०० से अधिक शब्द व्यक्त किये जा सकते हैं। परन्तु मुख्यतः ५ एकाकी मुद्राओं और कुछेक संयुक्त-मुद्राओं का प्रयोग सामान्यतया किया जाता है।

कुछ नृत्य-कला के आचार्यों के अनुसार कथाकली में लास्य तथा ताण्डव दोनों प्रकार के भेद होते हैं। अर्थात् ताण्डव में वीर तथा भयानक और रौद्र रस की अभिव्यक्ति की जाती है और लास्य में शृंगार, भक्ति तथा करुण रस की।

आजकल भारतीय नाट्य-कला के आचार्य, संसार-प्रसिद्ध नृत्य-कला-विशारद श्री उदयशंकर भारत में नृत्य-कला के पुनरुज्जीवन के लिए उद्योग

कर रहे है। उन्होने यूरोप और अमरीका मे वर्षो तक अपनी कला का प्रदर्शन करके अतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की है। अलमोडा की एक उपत्यका मे, प्रकृति की मनोरम गोद मे उन्होने भारत-सस्कृति-केन्द्र (India Culture Centre) की स्थापना करके नृत्य के पुनरुज्जीवन के लिए प्रयत्न आरम्भ कर दिया है।

स्वय श्री उदयशकर के शब्दो मे "इस केन्द्र में सम्मिलित होनेवाले कलाकार गतिमय ससार को देखने, उसकी रग-बिरगी रूपरेखा को परखने और सजीव मूर्ति-रूप में उसे व्यक्त करने तथा उसकी नाना प्रकार की कोमल और भावपूर्ण भगियो को साकार रूप से दृष्टिगोचर करने और कराने की शिक्षा दी जायगी। इसके पाठ्य-क्रम तथा अभ्यास की नींव शास्त्रोक्त रीति से होते हुए भी शरीर की सहज सुन्दर भाव-भगी के आधारभूत होगे। छात्रो में सक्रिय कल्पना-शक्ति की वृद्धि के लिए उन्हे कुछ खास तरह के ऐसे अभ्यास बताये जायेंगे, जिनसे वे चित्त को एकाग्र और भावुकता को बढाने में समर्थ होते हुए अपनी भूले और कमियां स्वय समझ सके।

यह तो है सस्कृति-केन्द्र का लक्ष्य। अब कला के विषय मे कलाकार उदयशकर के विचार भी मननीय है—

"यद्यपि कलात्मक दिग्दर्शन वास्तविक जीवन से भिन्न होता है, परन्तु वह आधारित रहता है जीवन पर ही। भारत मे हम कला को विविध दृष्टिकोण से देखते है। इनमें एक है मुद्राओ की सहायता से कला का दिग्दर्शन कराना। इसमे वास्तविक से, जो रगमच पर किया जाता है, अधिक अर्थसूचक होता है और यही रस की अनुभूति है। यह जल के ऊपर के बुलबुलो की भाति नही बल्कि समुद्र के स्थायी अन्तःस्रोत की भाति होता है। दर्शक और कलाकार का वास्तविक समागम तभी सम्भव है जब कि कलाकार रस के इस रूप की स्रोत का सुर छेड सके और उसे समवेत रसिक-मण्डली तक पहुंचाने में समर्थ हो सके। सिर्फ टेक्नीक याद करने से काम न चलेगा। कलाकार का समूचा जीवन कलामय बनाना होगा जिससे वह सजीव नर्तक का

व्यक्त कर सके और तभी वह आध्यात्मिक विकास तथा भावना में प्रवेश कर सकेगा।"[१]

श्री उदयशंकर, वास्तव मे, आर्य संस्कृति और कला के एक महान् उन्नायक हैं। उन्होंने भारत की मृतप्राय नृत्यकला को पुनरुज्जीवित करके उसमे मौलिकता तथा नवीनता की स्थापना की है। नृत्य भारत में अश्लीलता तथा कामुकता का द्योतक बन गया था, पर उन्होंने उसे अपनी साधना तथा सिद्धि द्वारा एक दैवी कला के रूप में फिर से उपस्थित किया है।

भारत मे नृत्य-कला का प्रचार दिनोदिन बढता जा रहा है। कुमारी कनकलता, कुमारी अमलानन्दी, श्री साधना बोस, रुक्मिणीदेवी, श्री रागिनीदेवी (अमरीकन महिला) और श्रीमती मीनाक्षी रामाराव ने इस कला मे बडी प्रसिद्धि प्राप्त की है। और भारत के लिए विशेष गौरव की बात यह है कि भारत से बाहर इन कलाकारो के प्रदर्शनो से प्रभावित होकर अमरीका व यूरोप मे भारतीय नृत्य अधिक लोकप्रिय बनते जा रहे हैं। आज से प्राय ३०-३५ वर्ष पूर्व अमरीका में मिस रूथ सेंट डेनिस, ने जो अमरीका मे हिन्दू नृत्यकला की आचार्या मानी जाती है, अपने भारतीय नृत्यो से लोगो की श्रद्धा और प्रशसा प्राप्त की। वर्तमान समय में ला-मेरी नाम की अमरीकन महिला अमरीका में भारतीय नृत्य कला का प्रदर्शन कर रही है।

चित्रकला

चित्र-कला भी भारत मे प्राचीन काल से ही प्रतिष्ठित है। यो तो चित्र-कला के संबध मे अनेक प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थो मे उल्लेख मिलता है, परन्तु विष्णु धर्मोत्तर पुराण के 'चित्रसूत्र' अध्याय में उसका विस्तृत और सरस वर्णन है। डा० स्टेला क्रामरिश ने अंग्रेजी भाषा में इस अध्याय का अनुवाद किया है। डा० आनन्द कुमार स्वामी ने भी इसका अनुवाद

---

१. 'कर्मयोगी' (मासिक), प्रयाग, सितम्बर १९३

नेताओं तथा अभिनेत्रियों का पूरा हाथ है। ऐसे भी बहुत से चित्र मिलेंगे जिन्हे मुस्लिम चित्रकारो ने बनाया है।

अजन्ता की गुफाओ की चित्र-कला

निजाम राज्य हैदराबाद में औरगाबाद से ५० मील दूर पर अजता प्रसिद्ध स्थान है। वहाँ चट्टान मे खोदकर ३२ गुफाएँ बनायी गयी है। जिनमे २९ विहार और ३ चैत्य है। अजन्ता की इन गुफाओ में आज से प्राय दो हजार वर्ष पूर्व चित्र बनाये गये थे। अजन्ता की तरह एलोरा मे भी चित्र-कला की शोभा दर्शनीय है। परन्तु इन दोनो मे अन्तर यह है कि अजन्ता की कला विशुद्ध बौद्धकला है और एलोरा की कला में बौद्ध, जैन और हिन्दू-कलाओ का मिश्रण है। इन चित्रो से तत्कालीन जनता के रीति-रिवाजो, सस्कृति और धार्मिक-जीवन का पूरा पता लग जाता है। इन विहारो मे महात्मा बुद्ध के जीवन की विविध घटनाओ को कलाकारो ने बडे मार्मिक तथा प्रभावशाली ढग से चित्रित किया है। वास्तव मे ये भारतीय कला के आश्चर्य-जनक प्रतीक है, जो आज भी उसकी सर्वश्रेष्ठता को पुकार-पुकारकर बताते हैं।

श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने चित्र-कला मे जो युगान्तर उपस्थित किया है तथा स्व० श्री शारदाचरण उकील ने जिस परम्परा को चलाया है उससे इस कला में बडी उन्नति हुई है। आजकल नन्दलाल बसु, असितकुमार हालदार आदि अच्छे चित्रकार है।

वास्तु-कला

प्राचीन भारत मे जहाँ आर्य-जाति ने अन्य कलाओं मे उन्नति की वहाँ वास्तु (भवन-निर्माण) कला में भी आश्चर्यजनक उन्नति की थी। प्राचीन सस्कृत साहित्य तथा विशेषत रामायण और महाभारत के अध्ययन से यह स्पष्टरूप से विदित हो जाता है कि आर्यलोग अपने निवास-स्थान बनाने, यज्ञ-शाला, धर्मशाला तथा अन्य सार्वजनिक भवन आदि बनाने मे वास्तु-कला के सिद्धान्तो से काम लेते थे। धातु के भी मकान

नागरिक जीवन और कला

नागरिक जीवन को सर्वश्रेष्ठ और समाजोपयोगी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसे संस्कृति के ढाँचे मे ढाला जाये। संस्कृति का अर्थ है—परिष्कार और संस्कार। मानव-जीवन को सुसंस्कृत बनाने के लिए कला ही सर्वोत्तम साधन है। प्रत्येक युग मे जब मानव-समाज ने अभ्युदय प्राप्त किया तब ऐसा वह कला के विकास द्वारा ही कर सका। वास्तव मे मानव-एकता और विश्व-बन्धुत्व की स्थापना करने मे कला का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। जब-जब समाज ने विशुद्ध कला की साधना की तब-तब उसने शान्ति, समृद्धि और मानव-एकता को प्राप्त किया और जब-जब समाज कला के नाम पर विलासिता और कामुकता मे लीन होगया, तब-तब उसे पतनोन्मुख होना पडा है। इतिहास इसका ज्वलन्त प्रमाण है। इसकी सिद्धि के लिए भारतीय इतिहास से दो प्रमाण दे देना उचित होगा।

मौर्य-काल मे समाज कितना प्रगतिशील था और जनता मे कितनी सुख-समृद्धि थी! उस काल मे मानव-समाज मे विशुद्ध कला की पूजा की जाती थी। परन्तु मुगल काल मे जब कला को राजाओ तथा नवाबो के राज-प्रासादो मे परिमित कर—जनता के बीच से उसे पृथक् कर—उनके मनोरंजन तथा विलासिता का साधन बना दिया गया तब हिन्दू-कला के पतन के साथ भारतीय जीवन और चरित्र का भी पतन हो गया। यही कारण है कि हम मौर्य्य-कालीन चित्रकला मे भक्ति-भावना की झलक पाते है—उसमे जीवन के बंधन से मुक्ति पाने की साधना का स्पष्ट आभास मिलता है। परन्तु मुगल काल की कला मे हम कामुकता, निम्न-कोटि के शृंगार और विलासिता की छाया पाते है। कारण स्पष्ट है कि मौर्य्य-काल मे कला जन-समाज मे एकता स्थापित करने के लिए थी, परन्तु मुगल-शासन मे वह अपने इस उच्च ध्येय से भ्रष्ट कर दी गयी और एक वर्ग-विशेष के मनोरंजन की साधन बन गयी।

कला का लक्ष्य मानवता को मुक्ति की ओर ले जाना है। वह मानव जीवन को श्रेष्ठ बनाने का काम करती है। वह समाज मे एकता

की प्रतिष्ठा के लिए एक सर्वोत्कृष्ट साधन है।

वर्तमान काल में हम जो विश्व-सस्कृति तथा समाज-एकता के विनाश का भयानक दृश्य देख रहे हैं उसका कारण है सच्ची कला की उपासना की उपेक्षा। वैज्ञानिको ने बड़े चिंतन तथा परिश्रम के बाद जिन नवीन-नवीन आविष्कारों तथा वैज्ञानिक चमत्कारो का आविर्भाव मानव-कल्याण के लिए किया था, उनका प्रयोग आज मानवता के विनाश के लिए हो रहा है।

कला और विज्ञान इन दोनों का मानव-जीवन के उत्कर्ष में महान् स्थान है। जिस प्रकार मनुष्य-शरीर में मस्तिष्क और हृदय का स्थान है, उसी प्रकार मानव-जीवन मे विज्ञान और कला का स्थान भी है। विज्ञान मानव-मस्तिष्क की उपज है और कला का सबध हृदय से है। विज्ञान विचार-प्रधान है—वह सत्य की जांच करता है और कला भावना-जगत मे उस सत्य की प्रतिष्ठा करती है। एक का विकास तथा उत्कर्ष दूसरे पर निर्भर है। एक की अशुद्धि का प्रभाव दूसरे पर अनिवार्य है। यदि हृदय किसी तरह विकारपूर्ण हो जाये तो उसका प्रभाव मस्तिष्क पर पड़े बिना न रहेगा और फलत सम्पूर्ण शरीर उस विकारपूर्ण हृदय से प्रभावित हो जायेगा। इसी प्रकार यदि मानव-जीवन में कला अपने उद्देश्य या लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाये तो विज्ञान भी उससे प्रभावित हुए बिना न रहेगा।

आज ससार मे जो भीषण ताण्डव हो रहा है और जिसके फलस्वरूप मानवता का सहार हो रहा है, उसका मूल कारण यही है कि पाश्चात्य देशों ने कला को भ्रष्ट कर उसे अपने विलास का साधनमात्र बना लिया है। इसी कारण आज वहाँ कला और विज्ञान दोनों मे कोई सबध नहीं रहा है। कला-शून्य जीवन मे विज्ञान आज कल्याण के स्थान पर सर्वनाश की वर्षा कर रहा है।

अत सारांश यह है कि नागरिक-जीवन में कला—विशुद्ध कला को फिर से उसी उच्चासन पर बिठाया जाये जिससे वह मानव-समाज में एकता की स्थापना कर सके।

संस्कृति

संस्कृति क्या है ?

'संस्कृति' शब्द संस्कृत से बना है। संस्कृत का अर्थ है शुद्ध किया हुआ, परिमार्जित, परिष्कृत, संवारा हुआ। संस्कृत विशेषण है और संस्कृति संज्ञा है। अतः संस्कृति का अर्थ हुआ शुद्धि, परिमार्जन तथा परिष्कार। मानव-समाज के सामाजिक जीवन को परिष्कृत, शुद्ध और पवित्र बनानेवाली जो एक प्रवृत्ति है, उसी का नाम संस्कृति है। प्रसिद्ध अंग्रेज विचारक सर मॉरिस ग्वायर ने अपने एक भाषण मे संस्कृति के संबंध में जो विचार प्रकट किये है उनसे इसका अर्थ और भी स्पष्ट हो जायेगा।

"मैं यह कहना चाहूँगा कि सच्ची संस्कृति का मुख्य निर्देशक सहानुभूति है, दिखावा अथवा उसका दावा नही। पांडित्य का भंडार, कला का ज्ञान तथा मनुष्यो व पुस्तको से परिचय 'संस्कृति' बनाते है, ऐसा मैं नही समझता, पर संस्कृति जिससे बनती है वह वह वृत्ति है जो इन सबके मिल जाने से उत्पन्न होती है। सच्ची संस्कृतिवाले मनुष्य मे मूल्य आंकने और ठीक-ठीक नापतोल की योग्यता मिलती है। और ऐसे मनुष्य के हृदय मे कभी ऐसा विचार आ ही नही सकता कि वह वह नही है जो दूसरे मनुष्य है, या जो मानवता सबमे व्याप्त है उसे भूल जाये।'

संस्कृति के सम्बन्ध मे योग्य विद्वान् ने जो अपना मन्तव्य प्रकाशित किया है, उससे शायद ही किसी सच्चे सुसंस्कृत व्यक्ति का मतभेद हो। वास्तव मे संस्कृति का प्रयोजन मानव-समाज की एकता ही है। एक संस्कृत पुरुष के लिए सब मानव समान है। वह न जाति के भेद-भाव को मानता है और न धर्म के भेद को। संस्कृति मानव-एकता का अनुभव कराती है। वह मनुष्य को यह सिखाती है कि सब मानव बराबर है, कोई मानव किसी दूसरे से भिन्न नही।

आर्य-संस्कृति के आदर्श

मानव-शरीर के तीन मुख्य भाग है—सिर, हृदय और धड़। मस्तिष्क के भी तीन महत्त्वपूर्ण कार्य है—अनुभूति, भाव और इच्छा।

इसी प्रकार संस्कृति के भी, जिसका मानव-जीवन के विकास अ
मानसिक उत्कर्ष से सम्बन्ध है, तीन अंग हैं। उसका दर्शन और विज्ञा
उसका धर्म और कला और उसका कर्मकाण्ड। इस तरह संस्कृति
ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों का समन्वय है।

आर्य-संस्कृति के दार्शनिक पहलू पर विचार करने से यह स्पष्ट
जाता है कि उसका सबसे प्रधान लक्ष्य लोकसंग्रह—मानव-मात्र का कल्या
है। उसकी दृष्टि में केवल मानव ही नहीं सभी प्राणी समान हैं।
जाति, रंग तथा मत के भेदभाव को नहीं मानती।

आर्य-संस्कृति का आदर्श यह है कि मानव विश्व में धर्म, अर्थ अ
काम की साधना द्वारा अभ्युदय को प्राप्त करता हुआ निःश्रेयस की सि
के लिए पुरुषार्थ करे। यह तो निर्विवाद है कि आर्य-संस्कृति आध्यात्मि
है, उसमें आत्मोत्कर्ष को सबसे बड़ा स्थान प्राप्त है। परन्तु इस
तात्पर्य यह नहीं कि वह भौतिक उन्नति का विरोध करती है।

आर्य-संस्कृति के अनुसार मानव का यह धर्म है कि वह धर्मद्वा
अर्थ की प्राप्ति करे—वह अपनी जीविका धर्म-युक्त कार्यों में ही कमाये
उसे इसके लिए अधर्म का आश्रय न लेना चाहिए। यह है आर्य-संस्कृ
का दर्शन-शास्त्र।

आर्य-संस्कृति का भक्ति-पक्ष सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा का सा
जस्यपूर्ण समन्वय है। सरस्वती का अर्थ है विद्या, ज्ञान-विज्ञान, लक्ष्
का अर्थ है, धन-सम्पत्ति और दुर्गा का अर्थ है शक्ति। मानव को अप
जीवन में इन तीनों की आवश्यकता है। वह पहले सरस्वती की पूज
करे अर्थात् ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करे, उससे वह लक्ष्मी की पूज
करने में समर्थ होगा। वह ज्ञान-विज्ञान द्वारा उद्योग-धन्धों में उन्न
करके धन पैदा कर सकेगा और इस तरह अन्त में उसे शक्ति प्राप्
होगी। यह शक्ति केवल पाशविक ही नहीं होगी, क्योंकि उसके मू
में ज्ञान-विज्ञान की प्रेरणा होगी। यह शक्ति केवल 'आर्थिक' नहीं होग
क्योंकि उसमें आध्यात्मिकता का अंश भी होगा।

आर्य-संस्कृति का तीसरा पक्ष है—कर्मकाण्ड। ज्ञान और भक्ति के आ

कर्म आता है। आर्य-संस्कृति का सारा कर्मकांड पतंजलि के योगदर्शन के एक सूत्र में निहित है। वह सूत्र है—यम-नियम का। अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच 'यम' हैं और शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति ये पांच 'नियम' हैं। जो संसार में सुखी जीवन बिताना चाहता है और उसके बाद पारलौकिक शान्ति की इच्छा करता है, उसे इन दस नियमों के अनुसार आचरण करना चाहिए।

संक्षेप में यही आर्य-संस्कृति का मौलिक स्वरूप है। आज के हिन्दू-समाज में, यद्यपि हम इन आदर्शों की पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं पाते, तथापि यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आज भी हिन्दू-जीवन इन आदर्शों के अनुसार आचरण करना अपना धर्म मानता है।

आर्य-संस्कृति की प्रवृत्तियां

आर्य-संस्कृति का अनुशीलन करने पर आर्य-जीवन की कई विशेषताएं व्यक्त होती हैं।

आर्य-संस्कृति की प्रथम और महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति यह है कि वह पारलौकिक आनन्द, शान्ति या मुक्ति को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानकर मानव को भोगवाद से पद-पद पर सतर्क रखने की चेष्टा करती है। यह शरीर तथा जड़ जगत नाशवान् है इसलिए प्रत्येक मनुष्य को आत्मा को— जो अजर है, अमर है, अजन्मा है तथा अनादि है—इस भोगवाद से पतित हो जाने से बचाना चाहिए। इसीलिए हिन्दू-जीवन में तपस्या, व्रत, दान दक्षिणा आदि का विशेष महत्त्व है।

आर्य-संस्कृति में व्यक्ति का उच्च स्थान है परन्तु वह समाज से ऊंचा नहीं है। वर्ण-व्यवस्था से वैदिक समाजवादी प्रवृत्ति का पूरा निर्देश मिलता है। समाज के हित के लिए मनुष्य को अपने हित का बलिदान करने की शिक्षा आर्य-संस्कृति का प्रमुख अंग है।

आर्य-संस्कृति अपनी समाजवादी प्रवृत्ति के कारण ही त्याग पर अधिक जोर देती है। वह भोगवाद को आत्मिक तथा आध्यात्मिक अभ्युदय में बाधक मानती है।

आर्य-सस्कृति में धर्म ओतप्रोत है। वह समाजनीति, अर्थनीति, और राजनीति सभी में विद्यमान है। वह वास्तव मे जीवन की एक मूल प्रेरक शक्ति है।

आर्य-सस्कृति मे हम सामजस्य की भावना पाते है। हम चाहे भाषा को ले, चाहे साहित्य को, चाहे कला को, चाहे सामाजिक जीवन को—सभी क्षेत्रो में सहयोग की भावना मिलेगी। सघर्ष और वर्गवाद के लिए आर्य-सस्कृति मे कोई स्थान नही है।

अरबी और मुस्लिम सस्कृति

भारत मे अरबी सस्कृति का प्रवेश मुसलमानो के आगमन से हुआ। अरबी सस्कृति धार्मिक, सैनिकवादी और राजनीतिक है। वह एकेश्वरवादी और मूर्ति-पूजा-विरोधी है। अरबी सभ्यता में प्रचार की भावना ओत-प्रोत है। अरबी सस्कृति की सबसे प्रमुख विशेषता है धार्मिक प्रवृत्ति। हिन्दू सस्कृति के समान ही मुस्लिम सस्कृति में धर्म और ईश्वर की भावना ओतप्रोत है। मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर धर्म का प्रभाव है। इस्लाम के कानूनो का आधार भी कुरान ही है जो मनुष्य-कृत नही है। मुसलमानो की जीवनचर्या भी इस प्रकार निर्धारित की गयी है कि वे ईश्वर और धर्म को विस्मृत नही कर सकते। दिन मे पाँच बार नमाज पढ़ना तथा शुक्रवार को मसजिद में सम्मिलित रूप से नमाज पढ़ना उनकी धार्मिकता का एक प्रमाण है।

मुस्लिम सस्कृति मे वीर-पूजा को ऊँचा स्थान प्राप्त है। वीर-पूजा का अर्थ इस हद तक लगाया गया है कि जो काफिरो के साथ धर्म-युद्ध में अपना बलिदान करदे तो वह सीधा स्वर्ग को जाता है।

मुस्लिम सस्कृति मे दानशीलता भी एक महत्वपूर्ण विशेषता है। मुसलमान दान-दक्षिणा देना तथा इस्लाम की उन्नति के लिए मसजिद बनवाना तथा धर्म-प्रचार के लिए दान देना अपना कर्तव्य समझते है।

मुस्लिम सस्कृति में स्त्री की पवित्रता तथा उसके सतीत्व की रक्षा के लिए भी विशेष व्यवस्था है। मुसलमान अपनी स्त्रियो को कड़े

परदे मे रखते है और मुस्लिम कानून मे भी ऐसी व्यवस्था की गयी है कि मुस्लिम स्त्री विधर्मी के साथ विवाह नही कर सकती। मुस्लिम पुरुष तो ईसाई, पारसी या यहूदी के साथ शादी कर सकता है।

मुस्लिम संस्कृति मे मानवीय एकता तथा समानता पर अधिक जोर दिया गया है। सब मनुष्य परमात्मा की दृष्टि मे समान है। मनुष्य को मनुष्य के साथ समान व्यवहार करना चाहिए।

मुस्लिम संस्कृति मे परिवर्तन

हमने अरबी संस्कृति की जो विशेषताएँ ऊपर बतलायी है, वे आदिम अवस्था की विशेषताएँ है। जब मुसलमान अपने अरब देश को छोड कर विदेशो मे इस्लाम के विस्तार के लिए गये तब उनकी संस्कृति पर तत्कालीन परिस्थितियो का प्रभाव पडा और उसमे परिवर्तन होने लगे।

मुस्लिम संस्कृति मे जो परिवर्तन हो गया, उसका वर्णन श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने इस प्रकार किया है—

"मुसलमान को यह सिखाया जाता है कि 'हमारा ही मजहब दुनिया में सबसे अच्छा है; यही एक ईश्वर तक पहुँचने का सबसे बेहतर रास्ता है। जो खुदा को नही मानता वह काफिर है, काफिर खुदा का मुन्किर—ईश्वर-विमुख—है, इसलिए वह मार डालने के लायक है। जो एक भी काफिर को दीने इस्लाम में लाता है, वह खुदा की मेहर हासिल करता है—जिस तरह हो सके इस्लाम को बढाओ। इसी उपदेश में मुस्लिम संस्कृति और मुसलमानो के स्वभाव में पायी जानेवाली अमर्याद हिंसा-वृत्ति, असहिष्णुता "का बीज है। मुसलमानो का यह उग्र हिंसक स्वभाव चाहे तत्कालीन अरब की परिस्थिति के कारण बना हो, चाहे पैगम्बर साहब के कुछ उपदेशो का दुरुपयोग करने के कारण बना हो—आज के सभ्य जगत् में वह आक्षेपयोग्य एव अक्षम्य है।"[1]

इसमें तनिक भी सन्देह नही कि आधुनिक मुस्लिम संस्कृति ने

---

१ श्री हरिभाऊ उपाध्याय 'स्वामीजी का बलिदान और हमारा कर्त्तव्य', पृ० ८४

को प्रथा को उठा दिया है। आज वहाँ मुस्लिम केवल एक ही पत्नी से शादी कर सकता है। अब वह एक साथ चार पत्नियाँ नही रख सकता।[1]

आर्य-सस्कृति पर मुस्लिम सस्कृति का प्रभाव

जब एक जाति दूसरी जाति के सम्पर्क मे आती है तो स्वाभाविक रूप से उन दोनो मे सस्कृतियो का आदान-प्रदान होता है। भारत मे कई सदियो तक मुसलमानो का शासन रहा। उस समय भारत का राजधर्म इस्लाम होने के कारण उसका हिन्दू-सस्कृति पर भी बहुत प्रभाव पडा।

हिन्दुओ मे जो कट्टरपथी थे उन्होने इस्लाम के प्रभाव से अपनी रक्षा करने के लिए सामाजिक बन्धनो को और भी कडा बनाने का उद्योग किया और जातपाँत के नियमो का बडी कठोरता के साथ पालन किया जाने लगा।

वे मुसलमानो को म्लेच्छ कहते थे और उनके सम्पर्क तथा ससर्ग से बचने के लिए बडे सतर्क रहते थे। अपनी पवित्रता की रक्षा के लिए ही सामाजिक बहिष्कार की प्रथा शुरू हुई है।

इस्लाम के सम्पर्क मे आने का प्रभाव यह हुआ कि हिन्दू समाज मे जातपाँत की कुप्रथा ने अधिक भयकर रूप धारण कर लिया और अस्पृश्यता का भी पालन बडी सतर्कता से किया जाने लगा। मुसलमानो से छूतछात की जाने लगी और जो लोग मुसलमानो के सम्पर्क मे रहने लगे उनसे भी कट्टरपथी छूतछात करने लगे। इस प्रकार वे हिन्दू-समाज के लिए 'अस्पृश्य' बन गये।

हिन्दुओ की सामाजिक व्यवस्था पर भी मुस्लिम सस्कृति का प्रभाव पडा। हिन्दू-समाज मे ऐसे अनेक सुधारक और धार्मिक नेता तथा महात्मा पैदा हुए है जिनके उपदेशो मे इस्लाम के उपदेशो की झलक स्पष्ट ही दीख पडती है। रामानन्द, कबीर, नानक, चैतन्य,वल्लभाचार्य आदि ऐसे कितने ही सन्त पैदा हुए जिन्होने जाति-प्रथा के विरुद्ध प्रबल प्रचार किया और हिन्दू-समाज मे समता के आदर्श की प्रतिष्ठा के लिए उपदेश दिये।

---

१. हेनरी ई० एलेन 'इस्लाम एण्ड सम मॉडर्न प्रॉब्लेम्स इन टर्की' ('हिन्दुस्तान रिव्यु', जुलाई १९३४)

भारत मे मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव से हिन्दुओं मे परदा-प्रथा का विकास हुआ। मुसलमानो से अपनी मा-बहनो की रक्षा करने के लिए उन्हे परदे मे रखा जाने लगा। इस तरह परदा हिन्दू-समाज का एक रिवाज बन गया।

मुसलमानो के आगमन से पहले हिन्दुओं की पोशाक वैसी थी जैसी हम राजपूत-काल के चित्रो मे देखते है वे सिर पर पगडी बाँधते थे और देह पर एक बड़ा लम्बा चोगा-सा पहनते थे जो घुटनो से भी नीचे तक होता था। धोती तो बहुत ही पुरानी पोशाक है।

मुसलमानो का अनुकरण करके हिन्दू भी कुर्ता, पायजामा, अचकन शेरवानी आदि पहनने लगे। स्त्रियो के आभूषणो मे भी नये-नये नक्शो का अनुकरण किया गया।

मुसलमान बादशाह तथा नवाब अपनी विलासिता के लिए बदनाम थे। मुगल-दरबार व्यभिचार और पाप-लीला का केन्द्र बन गया था ऐसी दशा मे हिन्दू महिलाओ का सतीत्व सकट मे था। नवयुवतियो और कुमारियो का अपहरण और उनके साथ बलात्कार सामान्य घटना थी। इसी कारण हिन्दुओ मे बाल-विवाह तथा अनमेल विवाह का रिवाज चल पड़ा।

हिन्दुओ के नैतिक जीवन पर भी मुस्लिम सस्कृति का बडा प्रभाव पडा। समाज मे मदिरा-पान और विलासिता अधिक बढ गयी। अज्ञान तथा धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूल जाने के कारण सैकडो प्रकार के अन्ध-विश्वासो ने यहाँ अपनी जड जमा ली। अबतक तो हिन्दू देवी-देवतो की ही पूजा होती थी। परन्तु अब अज्ञानी हिन्दू स्त्री-पुरुष मुसलमान फकीरो, मुल्लाओ और मौलवियो से तावीज, गण्डे और दवा लाने लग गये। यह अन्ध-विश्वास यहाँ तक बढा कि मुसलमानो के पीर, मदार, सैयद और कब्रो के पत्थरो तक की पूजा होने लगी।

मुसलमानो के शासन-काल मे अरबी और फारसी को राजभाषा का पद मिला। भारत के उत्तरी प्रान्तो मे मुसलमानो का शासन अधिक काल तक रहा। आगरा, देहली तथा लखनऊ मुगलकाल मे राजधानी रह चुके है। फलत भारत के उत्तर मे सस्कृत भाषा का प्रचार

कम हो गया और उनके दक्षिणी प्रान्तो मे उनका प्रचार बढ गया। हिन्दू जनता मे हिन्दी भाषा का प्रचार बढने लगा। इस काल मे जो साधु-सन्त पैदा हुए, उन्होंने अपनी पुस्तके हिन्दी भाषा मे लिखी। फारसी और अरबी भाषा का प्रयोग करनेवाले मुसलमान जब हिन्दुओ के सम्पर्क मे आते थे तो उन्हे अपनी भाषा मे संस्कृत, हिन्दी तथा बोलचाल के सरल शब्दो का प्रयोग करना पडता था जिससे वह हिन्दुओ के लिए बोधगम्य हो सके। यही भाषा धीरे-धीरे विकसित होकर 'उर्दू' हो गयी।

भारतीय वास्तु-कला, संगीत, काव्य, साहित्य तथा भाषा पर भी मुसलमानो की संस्कृति का प्रभाव पडा, परन्तु इन क्षेत्रो मे मुस्लिम संस्कृति का जो प्रभाव पडा वह ऐसा नही था कि जिससे आर्य्य-संस्कृति के आदर्शो पर कोई आघात पहुँचा हो।

मुस्लिम संस्कृति पर आर्य संस्कृति का प्रभाव

केवल आर्य संस्कृति पर ही मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव नही पडा बल्कि मुस्लिम-संस्कृति भी आर्य-संस्कृति से प्रभावित हुई। भारतीय वेदान्त और एकेश्वरवाद का अनेक मुस्लिम सन्तो तथा दार्शनिको पर गहरा प्रभाव पडा और इस प्रकार प्रभावित होकर उन्होने मुसलमानो मे कई ऐसे मतो की स्थापना की जो शान्ति और मानवता एवं सहिष्णुता मे विश्वास करते है।

मुगल सम्राट अकबर के नवरत्नो मे शेख अबुलफजल प्रसिद्ध धार्मिक विद्वान् और इतिहासकार हुआ है। उसने एक फारसी इतिहास-ग्रंथ 'आईने अकबरी' लिखा है। शेख अबुलफजल यद्यपि सूफीमत का अनुयायी था, परन्तु उसपर वेदान्त और गीता का बडा प्रभाव पडा था। उसने लिखा है—

"मुझपर यह बात रौशन हो गयी है कि आमतौर पर लोगो का यह कहना कि हिन्दू लोग उस अद्वितीय परमेश्वर के साथ औरो को भी शरीक करते है, सत्य के अनुकूल नही। यद्यपि किसी-किसी बात की व्याख्या और उसकी युक्तियो के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है, तथापि

भाषा और मनोवृत्ति पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा करती है। नैतिक विजय के अभाव में राष्ट्रीय विजय का स्थायी होना असम्भव है। विदेशी शासन से बढ़कर जातीय चरित्र को भ्रष्ट करनेवाली और कोई भी वस्तु संसार में नहीं है। गुलामी जातीय चरित्र के पतन का कार्य और कारण दोनों ही है। नैतिक पतन के कारण जातियाँ गुलाम बनती हैं और गुलामी के कारण उनका नैतिक पतन होता है।

अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कंपनी ने जब भारतवर्ष की स्वतन्त्रता छीनी तो उसे भी अपनी राष्ट्रीय विजय को स्थायी बनाने के लिए भारतवर्ष पर नैतिक विजय प्राप्त करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अंग्रेजों को यह अनुभव हुआ कि जबतक हम भारत के सामाजिक जीवन का सर्वनाश न कर देंगे तबतक भारत सदैव के लिए हमारी गुलामी में न आ सकेगा। इसलिए भारत की नैतिक विजय प्राप्त करने के लिए अंग्रेजी शासकों ने भारतीय सामाजिक जीवन और नैतिक जीवन पर अपना नियंत्रण रखना शुरू किया।

कम्पनी ने भारतीय बच्चों की शिक्षा के लिए कई स्कूल और कालेज खोले जिनमें भारतीय भाषा और साहित्य के साथ अंग्रेजी भाषा और साहित्य की शिक्षा दी जाने लगी। इन नवीन शिक्षा-संस्थाओं में ब्राह्मण 'आचार्य' का स्थान अंग्रेज 'प्रिंसिपल' ने लिया। भारत की प्राचीन वैदिक शिक्षा-पद्धति का उच्छेद किया गया और उसके स्थान में पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली की स्थापना की गयी जिसका उद्देश्य भारतीयों में ऐसी मनोवृत्ति पैदा करना था जिससे वे अपने को अंग्रेजों से धर्म, इतिहास, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, सभ्यता तथा संस्कृति में हीन समझते रहें और उनमें राष्ट्रीय एकता की भावना पैदा न हो सके। कंपनी के शासकों को ऐसे छोटे कर्मचारियों की भी आवश्यकता थी जो अंग्रेजी भाषा का ज्ञान रखते हों। इन दो उद्देश्यों से भारत में अंग्रेजी साहित्य, भाषा और विचारधारा का प्रचार किया गया।

इसके अतिरिक्त जब भारत में 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' का शासन प्रबन्ध था, उसे भारत में अंग्रेजी राज्य को स्थायी बनाने तथा शासन-

न्ध की सुविधा के लिए ऐसे भारतीयो की आवश्यकता पडी जो टी-छोटी सरकारी नौकरियो पर नियुक्त किये जा सकें। यह युक्ति ची गयी कि कम वेतन पर भारतीयो को छोटी-छोटी नौकरियाँ जाये। इससे उनमे रिश्वतखोरी बढेगी तथा उनका चारित्रिक पतन होगा। वे इसके लिए अपने देशवासियो को ही दोष देगे।[१]

जो अग्रेज भारतवासियो को नौकरियाँ देने का समर्थन करते थे उनके पक्ष थे। एक पक्ष का कहना था कि भारतवासियो को केवल प्राचीन रतीय साहित्य, भारतीय विज्ञान और सस्कृत, फारसी, अरबी तथा ी भाषाएँ पढानी चाहिएँ, उन्हे पश्चिमी विचारो की हवा भी न ने देनी चाहिए, क्योकि भारतवासियो को जब यूरोप के इतिहास ज्ञान होता है और वे पश्चिम के राष्ट्रीय विचारो के सम्पर्क में ते है, तो मुट्ठीभर विदेशियो के द्वारा उन्हे अपने देश का शासित होना रने लगता है और वे स्वभावत अपनी मातृभूमि के मस्तक से गुलामी कलक को मिटा देने की बात सोचने लगते है।

दूसरे पक्ष का यह विचार था कि भारतवासियो के चरित्र को जब- यूरोपियन साँचे मे न ढाला जायेगा, तबतक हमारे चरित्र के प्रति के मन मे श्रद्धा और सम्मान का भाव नही उत्पन्न हो सकता, जो रे शासन के स्थायित्व के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा वे हमको कर, म्लेच्छ और विदेशी समझते रहेगे, और जब अवसर पायेगे तब अपने देश से बाहर भगाने की चेष्टा करेगे। इसके विपरीत यदि अग्रेजी भाषा, अग्रेजी साहित्य, अग्रेजी विज्ञान और अग्रेजी सभ्यता

१. "If we are to have corruption, it is better that it ld be among the natives than among ourselves, be- e the natives will throw the blame of the evil upon countrymen, they will still retain high opinion of our rior integrity, and our character, which is one of the ngest supports of our power, will be maintained"
—Sir Thomas Munro, *Governor of Madras*

तो वे बडी प्रसन्नतापूर्वक हमारे पूर्वजों के गुणो का
ा चरित्र से शिक्षा ग्रहण करेंगे और उनके अनुसार
चेष्टा करेंगे। ऐसी अवस्था में वे अपना विरोध
री आज्ञा का पालन करने मे अपना गौरव समझेगे
का अनुकरण करके हमारे राज को अपना अहो-
नीति का स्पष्टीकरण लॉर्ड मैकॉले के सन् १८३५
ता है जिसमें लिखा है—
ऐसे मनुष्यो की एक श्रेणी पैदा कर देने का शक्ति-
ाहिए जो हमारे और उन करोडो भारतवासियो के
ासन करते हैं, दुभाषिये का काम करे। इन लोगो
ए कि ये केवल रग और रक्त की दृष्टि से भारतीय
ार, भाषा और बुद्धि की दृष्टि से अग्रेज।"
ाता है कि भारत पर पाश्चात्य सस्कृति, भाषा,
ति-रिवाज, रहन-सहन की प्रणाली आदि लादने के
गठित रूप से भयकर आयोजन किया गया। और
हिन्दुस्तानियो मे आज हाथ मिलाना, विदेशी भाषा
व की बात समझना, टी-पार्टी, एट-होम, डिनर,
-प्रमोद मनाना, डबलरोटी, बिस्कुट चाय, केक,
पीना, स्त्री-पुरुषो की वेशभूषा में अग्रेज जाति का
विल मेरिज और डाइवोर्स (तलाक) का आश्रय
री प्रथाएं आ गयी हैं और भारतीय सस्कृति को

र की सस्कृति, सभ्यता, भाषा, साहित्य, विचारधारा,
पीय सभ्यता का प्रभाव नही पडा प्रत्युत यहाँ के
और सामाजिक आदर्शो पर भी इग्लैण्ड की सभ्यता
है

करने पर भी वे सदैव अन्न के लिए चिंतित रहते है। उनके शरीर पर मोटे कपडे तक नही होते।

फिर, इस भयकर गरीवी मे अज्ञान का अखण्ड राज है। ९०% जनता निरक्षर है, ९४% मनुष्यो को अक्षर-ज्ञानमात्र है और शेष व्यक्ति शिक्षित है।

भारत का क्षेत्रफल १८ करोड वर्गमील है। इसमे ४०करोड व्यक्ति रहते है जो समस्त ससार की जनसख्या का १/५ भाग है। क्षेत्रफल के हिसाव से भारत मे एक वर्गमील मे औसतन् १९५ व्यक्ति रहते है। परन्तु कितने ही प्रान्तो मे ऐसे स्थान भी है जहाँ इससे चार या पाँच गुनी अधिक आवादी एक वर्गमील मे रहती है। यूरोप मे एक वर्गमीलमे १२७ व्यक्ति और अमरीका मे एक वर्गमील मे ४१ व्यक्ति रहते है। इस दृष्टि से भारत मे वडी घनी आवादी है। किन्तु जन्म-मृत्यु की दृष्टि से हमारा देश ससार के दूसरे देशो से हीन है। सन् १९३१ मे भारत मे मृत्यु-सख्या का औसत १००० में २४ ५ था और जन्म-सख्या का ३३। उस समय ब्रिटेन की मृत्यु-सख्या १२ ५, जर्मनी की ११ और अमरीका की ११ ३ थी। भारतीय जीवन का औसत मान भी वहुत ही कम है। सन् १९३१ की मनुष्य-गणना के अनुसार भारतीय की औसत आयु २६ ७ वर्ष है, जवकि इग्लेंडवासी की ५७ ६, अमरीकावासी की ५६ ४, जर्मन की ५९ ०४, फ्रान्सीसी की ५० और जापानी की ४४ ५ वर्ष है।

औद्योगिक स्थिति

भारत की कुल ३५ करोड की जन-सख्या मे १५ करोड ३९ लाख अर्थात् ३/७ व्यक्ति कार्य करने और जीविका कमाने लायक थे। इनमे से १५ करोड २० लाख उपयोगी उद्योग-धन्धो व व्यवसायो मे लगे हुए थे शेष १८ लाख ४४ हजार अनुपयोगी धन्धो मे। यह नीचे दी हुई तालिका से स्पष्ट हो जायेगा

व्यवसाय	कार्य करने योग्य व्यक्तियो की सख्या
कृषि, मछली पकडना व शिकार—	१० करोड, ३२ लाख, ९४ हजार ४३९

उद्योग-धन्धो और खानो मे काम—	१ करोड़, ५६ लाख, ९७ हजार, ९५३
व्यापार और यातायात—	१ करोड, २ लाख, ५५ हजार, ३
सरकारी नौकरियाँ और सेना—	१८ लाख, ३६ हजार, ७५८
वकील, डाक्टर और कलाकार—	२३ लाख, १० हजार, १४१
घरेलू नौकर —	१ करोड, ८ लाख, ९८ हजार, २७७
अन्य विविध पेशे —	७७ लाख, ७८ हजार, ६४२
अनुपयोगी धन्धे —	१८ लाख, ४४ हजार, ६४२

ब्रिटिश भारत में लगभग २८ करोड एकड भूमि पर खेती होती है। प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से मे १०२ एकड भूमि आती है। इस भूमि पर हर वर्ष कृषि द्वारा २० अरब, ३२ करोड रुपये की पैदावार होती है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से मे ६४ रुपये की सामग्री आती है। यही सख्या अमरीका में १७५, कनाडा मे २१३, जापान मे ५७ और इग्लैड मे ६२ रुपये है। कृषि की आमदनी की दृष्टि से भारत इग्लैड और जापान से कुछ अच्छा है, परन्तु उद्योगो में वह बहुत पिछडा हुआ है। अन्य औद्योगिक देशो मे जनसख्या का अधिक भाग उद्योग-धन्धो में लगा हुआ है और बहुत ही कम भाग खेती पर निर्भर है, परन्तु दूसरे देशो की अपेक्षा हमारे देश मे उद्योग-धन्धो में बहुत कम लोग लगे हुए है। औद्योगिक पैदावार का औसत प्रति व्यक्ति अमरीका में ७२१, ब्रिटेन में ४१२, कनाडा में ४७० और जापान में १५८ रुपये है। भारत में यह औसत केवल १५ से २० रुपये है।

व्यापारिक स्थिति

भारत की व्यापारिक स्थिति भी अत्यन्त शोचनीय है। आर्थिक सकट के पूर्व, सन् १९२८-२९ के अनुसार, भारत का आयात-व्यापार २५३ ३ करोड़ रुपये और निर्यात-व्यापार ३३० १ करोड रुपये का था। इस प्रकार प्रति व्यक्ति पीछे मे प्रति वर्ष १७ रुपये का व्यापार होता है। अन्य देशो में प्रति व्यक्ति पीछे व्यापार का अनुपात इस प्रकार है—इग्लैड में ५९७, अमरीका मे २१८, कनाडा मे ९२ और जापान

भारतवर्ष मे प्रति व्यक्ति पर औसत कर इस प्रकार है—

वर्ष	रुपये	आना	पाई	वर्ष	रुपये	आना	पाई
१९२२-२३	५	४	५	१९२७-२८	५	५	०
१९२५-२६	५	६	७	१९३२-३३	५	०	६

इस प्रकार ५५ रुपये वार्षिक औसत आय मे से ५ रुपये अर्थात् आय का $\frac{1}{11}$ भाग करो मे दे देना पडता है।

भारत की भयकर गरीबी और दरिद्रता के सबध मे भूतपूर्व ब्रिटिश प्रधान मत्री श्री रेमजे मैकडानल्ड ने लिखा है—

"… ५ करोड तक कुटुम्ब (जिसका मतलब हुआ १५ से लेकर २५ करोड तक मनुष्य) साढ़े तीन आने की आय पर अपना गुजारा करते हैं। ··हिन्दुस्तान की दरिद्रता केवल कल्पना नहीं बल्कि वस्तु-स्थिति है। सर्वथा-सम्पन्न-काल तक में कर्जरूपी चक्की का मोटा पाट किसान के गले में लटका रहता है। ·· ··ग्रामो में घूमने पर ऐसे ककाल दिखायी पडते हैं जो दिन-रात के परिश्रम से चकनाचूर हो गये हैं और जो भूखे पेट मन्दिर में जाकर खिन्नवदन होकर परमेश्वर की उपासना करते हैं।"

श्री आर्यविन ने अपनी पुस्तक 'भारत का बाग' (Garden of India) मे भारत के मजदूरो की स्थिति के बारे मे लिखा है—

"अनाज में से ककर की तरह निकाले हुए अधनगे-भूखे लोग गांव-गांव में सर्वत्र दिखायी पडते हैं। उनके पास मवेशी न होने के कारण जीविका का कोई साधन नही है। कुदाली से खोदी हुई जमीन के सिवा उनकी जीविका की और कोई वस्तु नही है। उन्हे दो सेर के भाव का बिल्कुल हलका अनाज अथवा डेढ या दो आने रोज की मजदूरी मिलती है और यह नगण्य मजदूरी भी पूरे वर्ष भर नहीं मिलती। क्षुधा-पीड़ित और बहुधा वस्त्र-हीन स्थिति में ये लोग सर्दी के दिनो में चोरो और पशुओ से अपनी रक्षा करके किस तरह जी सकते हैं, यह एक आश्चर्य ही है।"

धातु या पैदावार	ससार का प्रतिशत	धातु या पैदावार	ससार का प्रतिशत
बौक्सीट	० ८	जूट	९८ ७
कच्चा क्राम	५ ३	गेहूँ	६ ६
कच्चा ताँबा	० ५	चावल	४३ ५
कच्चा लोहा	१ ९	मक्का	१ ६
कच्चा मेगनीज	१७ ९	जौ	५ ४
कोयला	१ ९	काफी (कहवा)	१ ७
पैट्रोल	० १	चाय	४२ ०
मेगनीसाइट	० ९	शक्कर	१८ ७
पोटाश	० १	तम्बाकू	१९ ६
सोना	१ ०	रेप-बीज	७३ ६
रबड	१ ०	बिनौला	१४ २
रुई	१२ ३	मूँगफली	५० ९
ऊन	२ ५	अलसी	१३ ०
रेशम	० १	सीसामम	५९ ८

आर्थिक साधनो मे भारत मे श्रम-शक्ति भी महत्त्वपूर्ण है। अभी-तक भारत की मानव-शक्ति का भी इस दिशा में अच्छी तरह उपयोग नही हो सका।

भारत का आर्थिक सगठन

हमारे देश का आर्थिक सगठन अत्यन्त विषम है, वह आर्थिक समता या आर्थिक न्याय पर आधारित नही है। ग्रामो मे समस्त भूमि के स्वामी जमीदार और किसान है जो किसानो से बडी-बडी रकमे लगान के रूप मे वसूल करते हैं और उसका एक अश सरकारी कोष मे मालगुजारी के रूप मे अदा करते है। ग्रामो मे जमीदारो और ताल्लुकेदारो का किसानो के न केवल आर्थिक जीवन पर ही बल्कि सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर भी पूरा नियन्त्रण है। किसानो को जमीदारो, साहूकारो और व्यापारियो की दया-दृष्टि के भरोसे रहना पडता है। जमीदार किसानो को

खेती के लिए भूमि देते है, साहूकार खेती के लिए कर्ज देते है और व्यापारी उनकी पैदावार को खरीदते है। प्राय इन तीनो का गुट्ट-सा रहता है।

नगरो में बडे-बडे कारखाने है जिनके स्वामी बडे-बडे सेठ, पूँजीपति महाजन और बैकर है। ये कारखाने कपनियो के रूप में है। इनमें ग्रामो से शहरो में आये हुए बेकार मजदूर काम करते है। उन्हे पूरी और पर्याप्त मजदूरी तक नही मिलती। काम भी अधिक लिया जाता है। उनके स्वास्थ्य की देखभाल का कोई प्रबन्ध नही होता। रहन-सहन भी बडी अस्वास्थ्यप्रद होती है। पूँजीपति इनके परिश्रम से मालामाल होते है, परन्तु इनका उचित भाग तक इन्हे नही दिया जाता। फलत औद्योगिक मजदूरो में भीषण अशान्ति और असन्तोष रहता है। जगह-जगह मजदूरो के सगठन भी बन गये है जो अपने सुधार के लिए काम करते रहते है। समाजवादी और साम्यवादी नेता इनमें प्रचार तथा सगठन का कार्य करते रहते है।

आज-कल देश मे आर्थिक समस्या के सबध में दो प्रकार के विचार प्रचलित है। एक वर्ग का विचार है कि आर्थिक प्रणाली को स्वावलम्बी बनाया जाना चाहिए। देश में तैयार हो जानेवाली चीजो के लिए दूसरे देश पर निर्भर रहना ठीक नही है। वे ग्रामो में उद्योग-धन्धा तथा घरेलू व्यवसायो की उन्नति पर अधिक जोर देते है। उनका कहना है कि खादी का प्रचार बढाया जाये और सब लोग हाथ का बना-बुना कपडा ही पहनें। जमीदारी ज्यो की त्यो कायम रहे और वे अपने को किसानो का ट्रस्टी मानें। इस विचारधारा के प्रवर्तक तथा प्रमुख समर्थक महात्मा गाधी तथा दूसरे गाधीवादी नेता है।

दूसरे वर्ग के लोग वे है जो देश के आर्थिक जीवन का निर्माण औद्योगीकरण और बडे-बडे उद्योग-धन्धो के सगठन से करना चाहते है। वे जमीदारी-प्रथा और पूँजीवाद को आज के युग में अनावश्यक समझते है। प० जवाहरलाल नेहरू, श्री सुभाषचन्द्र बसु, श्री मानवेन्द्रनाथ राय, आचार्य नरेन्द्रदेव आदि नेता देश मे [illegible] औद्योगीकरण चाहते है। वे गृह-उद्योग, खादी या ग्रामोद्योग को देश के लिए आर्थिक जीवन का स्थायी अग नही मानते। उनकी राय

में ये ग्रामोद्योग केवल सक्रमण-काल के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं ।[१]

भारत की गरीबी के मूल कारण

भारत की भयकर गरीबी के मूल कारणो मे सबसे प्रधान राजनीतिक पराधीनता और उसके फलस्वरूप आर्थिक पराधीनता है । भारतीय जनता की आर्थिक नीति का पूर्ण नियत्रण ब्रिटिश सरकार के हाथ मे है । भारतीय जनता को उसमे हस्तक्षेप करने का कुछ भी अधिकार नही है । व्यापारिक सबधो, व्यापारिक नीति, तट-कर सरक्षण, व्यापारिक कपनियो पर नियत्रण, विनिमय की दर आदि सभी पर ब्रिटिश सरकार का पूरा नियत्रण है ।

दूसरा प्रमुख कारण है भारत मे निरक्षरता और शिक्षा का अभाव । जनता के अशिक्षित होने के कारण उनमे ज्ञान-विज्ञान से लाभ उठाने की प्रवृत्ति का अभाव रहता है । फलत वह उद्योग-व्यवसायो को वैज्ञानिक ढग से उन्नत बनाने मे विफल रहते है ।

तीसरा प्रमुख कारण है भारत मे कृषि की प्रधानता । कृषि-प्रधान होने से भारत कच्चा माल तैयार करने पर तो खास ध्यान देता है, परतु वह, इस कारण, औद्योगिक प्रगति मे पिछडा हुआ है ।

भारत के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री सर एम विश्वेश्वरैया का कथन है कि भारतवासियो को अपना जयघोष यह बनाना चाहिए—'उद्योगवादी बनो' । उन्होंने काशी विश्वविद्यालय के दीक्षान्त-समारोह-भाषण (१९३७) मे कहा था—

"पिछली शताब्दी से कनाडा में अन्न पैदा करनेवाले मजदूरो की सख्या बराबर घटती आ रही है और यह सख्या ७५% से घटकर आज १७% हो गयी है । स्वीडन में भी खेती का काम करनेवालो की सख्या में भारी कमी हो गयी है । वहांकी एक बहुत बडी सख्या उद्योग, व्यवसाय, शिल्प और व्यापार में लग गयी है । पचास वर्षो से हर देश में यही प्रवृत्ति देखने

---

१ जवाहरलाल नेहरू 'मेरी कहानी' (१९४१) पृ० ८३४

में आरही है, जैसा कि रूस, जर्मनी और जापान में प्रत्यक्ष है। भारत को अक्सर कृषि-प्रधान देश कहा जाता है, परन्तु जनता को यह साफ-साफ नहीं बतलाया जाता कि उसकी सुरक्षा कृषि की अपेक्षा उद्योग और नौकरी पर निर्भर है। उद्योगों को प्रोत्साहन देना प्रगतिशील देशों में मौलिक नीति स्वीकार की गयी है। परन्तु यहाँ उसकी अपेक्षा की जाती है।"

गरीबी का चौथा कारण यह है कि भारत में उत्पादन और उसका वितरण न्यायोचित ढंग से नहीं किया जाता। खेती की पैदावार की बिक्री की भी कोई अच्छी पद्धति नहीं है। इस कारण किसानों को कम मूल्य पर सस्ते दामों मे अपना माल बेचना पड़ता है। भारत में कृषि की पद्धति भी जनता की गरीबी का एक प्रधानकारण है। भूमि का वितरण भी सामाजिक न्याय के सिद्धान्त के आधार पर नहीं है।

जबतक भारत पूर्णत उद्योगवादी राष्ट्र नहीं बन जाता तबतक भारतीय व्यापार के सरक्षण की अत्यन्त आवश्यकता है और जबतक सरकार भारत के उद्योग-धन्धो का सरक्षण नहीं करेगी, तबतक औद्योगिक क्षेत्र में उन्नति होना सभव नहीं।

श्री देवीप्रसाद खेतान का मत है कि भारत-सरकार द्वारा शक्कर व्यवसाय को १५ वर्ष के लिए सरक्षण मिलने का असर यह हुआ है कि पाँच वर्ष मे ही भारत शक्कर के व्यवसाय में स्वावलम्बी हो गया है। शक्कर-व्यवसाय की उन्नति से १५ करोड रुपये विदेशो में जाने से बच गये। इनमे से ८ करोड रुपये तो किसानो को मिल जाते है।[१] विगत २० वर्षो मे भारत मे सूती-वस्त्र-व्यवसाय, शक्कर, दियासलाई, कागज, कपड़े, गुड आदि व्यवसायों ने आश्चर्यजनक उन्नति की है, जो नीचे दी हुई तालिका से प्रकट होती है—

१ कानपुर के इम्पीरियल इन्स्टीटयूट आफ शुगर टेकनोलोजी के डाइरेक्टर की रिपोर्ट के अनुसार भारत में सन् १९३९-४० में १२, ४१, ७०० टन शक्कर बनायी गयी। इससे पहले साल में ६, ५०, ८०० टन शक्कर बनायी गयी। भारत में इस समय १४५ शक्कर के मिल काम कर रहे हैं।

इन वर्षो मे भारत को प्राय १०० करोड की आय हुई है।

व्यवसाय	सन् १९२५-२६	सन् १९३५-३६
दियासलाई	१२ करोड ६० लाख दर्जन	२९ करोड ४० लाख दर्जन
कागज	२८ हजार टन	४८ हजार टन
सूती कपडा	१९५ करोड ४० लाख गज	३५७ करोड १० लाख गज
हाथबुना कपडा	११६ करोड गज	१६६ करोड गज
शक्कर	३ लाख २१ हजार टन	११ लाख ६६ हजार टन
गुड	३५ लाख टन	६७ लाख ५० हजार टन
लोहा	३ लाख २० हजार टन	अप्राप्त

भारत की जनता की गरीबी के कारण आर्थिक के अतिरिक्त सामाजिक भी है। भारत मे ऐसी सामाजिक कुप्रथाएँ प्रचलित है जिनके कारण भी जनता को अपने धन का वहुत वडा भाग व्यर्थ खर्च करना पडता है। इन सामाजिक प्रथाओ मे सवसे हानिप्रद प्रथाएँ है—वाल-विवाह, विवाहो मे धन का अपव्यय, मृत-भोज, श्राद्ध तथा तीर्थ-यात्रा मे महन्तो, साधुओ और पुजारियो को दान-दक्षिणा, शरावखोरी, जुआ, वेश्यागमन इत्यादि।

ये सामाजिक वुराइयाँ न केवल आर्थिक दृष्टि से ही हानिप्रद है, वल्कि नैतिक और स्वास्थ्य की दृष्टि से भी घातक है। इनका कुप्रभाव केवल फिजूलखर्ची करनेवाले तक ही सीमित नही रहता सारे कुटुम्ब, ग्राम और समाज पर भी पडता है।

कृषि

भूमि-प्रणालियाँ

भारत मे दो प्रकार की भूमि-प्रणालियाँ (Systems of Land Tenures) प्रचलित है। एक जमीदारी और दूसरी रैयतवारी। जमीदारी प्रणाली विशेषत वगाल, विहार, सयुक्त-प्रान्त और उत्तरी मद्रास में प्रचलित है। इसके अनुसार जमींदार भूमि के स्वामी होते है और वे उसकी मालगुजारी सरकार को देने के लिए वाध्य है। जमींदार

अपनी भूमि किसानो को जोतने-बोने के लिए दे देते हैं और उसके एवज में उनसे लगान वसूल करते हैं। इस लगान का एक नियत भाग सरकार को मालगुजारी के रूप में दे दिया जाता है और शेष उनके हिस्से में आता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत सरकार का जमींदार ही से सीधा सम्बन्ध होता है किसानो से कोई सम्बन्ध नही होता। इसलिए जमींदार के किसानो पर होनेवाले अत्याचार में वह हस्तक्षेप नहीं करती।

रैयतवारी भूमि-प्रणाली भारत के शेष भाग पंजाब, बम्बई, सिन्ध, मध्यप्रान्त, सीमाप्रान्त, दक्षिण-मद्रास आदि में प्रचलित है। इस प्रथा के अनुसार भूमि के स्वामी किसान ही होते हैं। प्रत्येक किसान को सीधे सरकार को मालगुजारी देनी पड़ती है। उनके और सरकार के मध्य में कोई तीसरा व्यक्ति नही होता जो भूमि का स्वामी कहलाये।

बन्दोबस्त

किसान अपनी जोत का जो लगान जमींदार या सरकार को देता है, उसपर समय-समय पर पुन विचार किया जाता है। इसके लिए जो कार्यवाही की जाती है उसे बन्दोबस्त कहते हैं। भारत में दो तरह के बन्दोबस्त है, स्थायी और अस्थायी। स्थायी बन्दोबस्त मे लगान हमेशा के लिए स्थिर कर दिया जाता है, जो किसान से नहीं बल्कि जमींदार से वसूल किया जाता है। सन् १७९५ में अवध और मद्रास में स्थायी लगान निश्चित कर दिया गया था। शेष सारे देश में अस्थायी बन्दोबस्त की प्रथा जारी है। सरकार के सर्वे-विभाग द्वारा की गयी सर्वे के आधार पर तीस-तीस वर्ष में प्रत्येक ज़िले की ज़मीन की पूरी जाँच होती है। प्रत्येक गाँव की पैमायश होती है, नक्शे बनते हैं, हरएक किसान के खेत को उसमे पृथक्-पृथक् बताया जाता है। उनके अधिकार का एक रजिस्टर रखा जाता है जिसमें जमीनो का लेन-देन आदि लिखा जाता है। इस रजिस्टर को 'वाजिबुल अर्ज' (Record of Rights) भी कहते हैं। यह सब जाँच करके उसके अनुसार लगान कायम करने का काम भारत सरकार की सिविल सर्विस के विशेष अफसरो

द्वारा होता है जिन्हे 'सेटिलमेण्ट अफसर' कहा जाता है।

लगान की दर

भारत मे जमीन पर जो लगान लिया जाता है, उसकी एक निश्चित दर नही है। वह स्थायी वन्दोवस्तवाले प्रान्तो मे एक प्रकार की है और अस्थायी वन्दोवस्तवाले सूवो मे दूसरे प्रकार की। फिर जमीदार तथा रैयतवारी प्रान्तो मे भी लगान की दरे भिन्न-भिन्न है। वे जमीन की किस्म और उसके अधिकार आदि के अनुसार निर्धारित की जाती है। वगाल में १६ करोड रुपये जमीदार लगान मे किसानो से वसूल करते है, परन्तु चूंकि वहाँ स्थायी वन्दोवस्त प्रचलित है, इसलिए सरकार उसमे से केवल ४ करोड रुपये मालगुजारी के रूप मे ले लेती है। अस्थायी वन्दोवस्तवाले प्रदेशो मे जमीदारो से अधिक-से-अधिक लगान का ५० फी सदी सरकार वसूल करती है। किसी-किसी प्रान्त मे वह इससे भी कम वसूल करती है।

जमींदारी प्रथा की उत्पत्ति और विकास

वेद-काल मे भारत मे जमीदारी-प्रथा नही थी। राजा और प्रजा का सीधा सम्वन्ध था। प्रजा राजा को लगान देती थी। उस [illegible] में समस्त भूमि चार प्रकार की थी—(१) वास्तु भूमि, (२) [illegible] भूमि, (३) गोचर भूमि, (४) वन्य भूमि। वास्तु-भूमि का [illegible] किसान होता था।[1]

रामायण-काल में भी हमे जमीदारी प्रथा का कोई प्रमाण [illegible] मिलता। स्मृति-काल तथा महाभारत-युग मे भी जमीदारी प्रथा [illegible] वौद्ध-काल मे भी जमीदारी प्रथा [illegible] मिलती। सब [illegible] के मालिक थे।[2] मोर्य-काल मे [illegible] ग्रामीय स्वशासन [illegible]

---

१ प्रो० सन्तोषकुमार दास [illegible]

२ रामदास गौड़ 'हमारे गाँवो [illegible]

ग्राम स्वतन्त्र थे। प्रत्येक ग्राम में एक ग्राम-पचायत होती थी इस पच
यत का जो मुखिया होता उसे ग्रामपति कहते थे। परन्तु वह आज-क
के जमीदार का पूर्वज नही है। जमीदारी का कोई रिवाज नहीं था
सब किसान अपने खेतो के मालिक थे।[१] पठान और मुगल काल
भी जमीदारी-प्रथा नही थी।

मुगल-काल मे भी सैद्धान्तिक रूप से राज्य ही समस्त भूमि का स्वामी
था, परन्तु भूमि की पैदावार किसान और सरकार के बीच में बाँटने
की व्यवस्था थी। लगान-वसूल करनेवाले लोग किसानो से लगान वसूल
करके सरकारी कोप मे जमा कर देते थे। इस प्रकार लगान वसूल करने-
वाले व्यक्तियों का एक वर्ग बन गया जो सरकार की ओर से नियुक्त किये
जाते थे और उन्हें सरकार से वेतन मिलता था। ये लगान वसूल
करनेवाले सरकारी कर्मचारी होते थे। जब मुगल साम्राज्य का
पतन होने लगा और शासन-व्यवस्था अस्तव्यस्त होने लगी तो
ये लगान वसूल करनेवाले स्वतन्त्र होते गये और उन्होने सरकार की
कमजोरी का लाभ उठाकर अपने पद को मौरूसी बना लिया। सरकार
की सत्ता मालगुजारी की आमदनी पर निर्भर थी। लगान वसूल करने-
वालो की स्वच्छदता के कारण सरकार को बड़ी आपत्ति का सामना
करना पडा। अन्त में सरकार ने यह निश्चय किया कि लगान वसूल
करनेवाले 'रेवन्यू फार्मर' कहलायेंगे। अर्थात् वे निर्धारित सालाना
मालगुजारी सरकार को देंगे और उन्हे यह स्वतन्त्रता दे दी जायेगी कि
वे रैयत से मनमाना लगान वसूल करें। सबसे पहले बगाल प्रान्त मे यह
प्रणाली जारी की गयी। यह मुगल-साम्राज्य-काल मे शुरू हुई और सारे
भारत मे व्याप्त हो गयी।[२]

आज के युग मे यह बतलाने की आवश्यकता नही है कि भारत
मे जमींदारी-प्रथा किसानो के लिए बड़ी दुखदायिनी है और यह निश्चित

---

१. रामदास गौड़: 'हमारे गाँवों की कहानी'

२ डॉ० जेड. ए. अहमद: 'द एग्रेरियन प्राब्लेम इन इंडिया'

जमींदार स्वय खेती करते है। १२ लाख जमींदार ऐसे है जो एक रुपये से कम मालगुजारी देते है। इसलिए वे तो नाममात्र के ही जमींदार हैं। १०० रुपये तक मालगुजारी देनेवाले जमींदारों की सख्या ४½ लाख है। १०० रुपये से अधिक मालगुजारी देनेवाले जमींदारो की सख्या १ लाख ६२ हजार और इनमें से १,१०० जमींदार ५००० रुपये या इससे अधिक लगान देते है। और केवल २०३ जमींदार २०,००० रुपये या इससे ज्यादा मालगुजारी देते है। इस प्रकार २० लाख जमींदारों में अधिकाश किसान ही है। केवल १ लाख ६२ हजार जमींदार ऐसे है जिनका गुजारा मुख्यतया जमींदारी की आमदनी से होता है। इसके साथ ही यह भी जान लेना जरूरी है कि जमींदारो पर प्राय ९० करोड का कर्ज है।

अग्रेजी राज के आरम्भ में किसानों का भूमि पर अधिकार भी सुरक्षित नहीं था। जमींदार भूमि के स्वामी बन गये परन्तु किसानो को भूमि पर स्थायी रूप से जोतने-बोने तक का अधिकार नहीं मिला। जमींदार जब चाहे तब काश्तकार को खेत से बेदखल कर सकता था। बाद में जब किसानो के लिए कृषि-कानून बनाये गये तब किसानो के अधिकारो की व्याख्या की गयी। इसी समय से जमींदारो ने अपने लिए खेती के निमित्त भूमि सुरक्षित रखना शुरू कर दिया। यही सुरक्षित भूमि 'सीर' कहलाने लगी। पहले सीर से अभिप्राय उस भूमि से था जिसे जमींदार स्वय अपने लिए जोतता-बोता था, परन्तु समय-समय पर कृषि-कानूनों द्वारा सीर की परिभाषा में परिवर्तन होता रहा। अन्त में सीर का नाम उस भूमि को दिया गया जो जमींदारो के निजी प्रयोग के लिए सुरक्षित होती थी और जिसपर किसानो को मौरूसी अधिकार प्राप्त नहीं होता था। जब जमींदार की जमींदारी बिक जाती थी, तो उसके साथ उसकी सीर नहीं बिकती थी।

इस प्रकार सीर जमींदारो का एक महत्त्वपूर्ण अधिकार बन गया। अवध-लगान-कानून १९२१ तथा आगरा-कृषि-कानून, १९२६ के अनुसार उस सब भूमि पर जमींदारो को सीर का अधिकार प्राप्त है जिसे वे स्वय या उनके नौकर व मजदूर जोतते-बोते थे और जो भूमि उपर्युक्त कानूनों

के बनने से १ वर्ष पहले खुदकाश्त दर्ज थी। अब उन्हे यह भी अधिकार प्राप्त हो गया है कि किसी भी १० साल की खुदकाश्त को वे सीर दर्ज करा सकते है, परन्तु अपनी जमीदारी की भूमि के १०% से अधिक भाग मे उन्हे सीर का अधिकार प्राप्त न हो सकेगा। अर्थात् जो ०० एकड भूमि का जमीदार है वह १० एकड से अधिक में इस प्रकार अधिकार प्राप्त नही कर सकता। सन् १९३५-३६ मे आगरा प्रान्त मे ४९ ३६ लाख एकड और अवध मे ७ २४ लाख एकड जमीन सीर थी।

सयुक्तप्रान्त मे किसान और उनके अधिकार

सन् १९३१ मे खेती करने और खेती से जीविका कमानेवालो की सख्या इस प्रकार थी—

कुल कृषक	१७, ७६, ५४, ३१
जमीदार (जो खेती नही करते)	२६, ०६, १०
जमीदार (जो खेती करते है)	१, ७९, ५५, ३६
काश्तकार (जो खेती करते है)	१२, ०१, १६, २१
काश्तकार (जो खेती नही करते)	१९, ३८, ७७
खेतिहर मजदूर	३, ४१, ९१, ८५
माली आदि	३, २१, ३९

सन् १९३५-३६ मे सयुक्तप्रान्त मे ३५, २७, ८०, ०० एकड भूमि पर कृषि होती थी और ९६ लाख एकड भूमि व्यर्थ पडी हुई थी। कृषियोग्य भूमि मे ३३, ७६, ६२५ एकड भूमि पर जमीदारो की सीर है और २८, १५, १४५ एकड भूमि पर उन्हे खुद काश्त का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार ६१ लाख से ऊपर एकड भूमि पर जमीदारो की सीर व खुदकाश्त है। २, ५९, ६४१ एकड भूमि ऐसी है जो किसानो के पास है और जो लगान से बरी है।

सयुक्तप्रान्तीय कृषि-कानून १९३९ के अनुसार सयुक्तप्रान्त में ७ प्रकार के किसान मजूर किये गये है जो निम्नलिखित है—

(१) हक़दारान कब्जा मुस्तकिल

हो, परन्तु वह सीर का काश्तकार न हो और न शिकमी काश्तकार (Subtenant) हो ।

(३) प्रत्येक व्यक्ति जिसने इस कानून के अन्तर्गत मौरूसी अधिकार प्राप्त कर लिये हो।

छठी श्रेणी दखीलकार काश्तकारो की है। ये वे काश्तकार है जिन्हे पहले लगान-कानून के अन्तर्गत दखीलकार काश्तकार के अधिकार प्राप्त थे।

जो काश्तकार उपर्युक्त किसी श्रेणी मे नही है वे गैरदखीलकार काश्तकार है।

अन्तिम श्रेणी के काश्तकार को छोडकर शेष काश्तकारो की सभी श्रेणियो को नीचे लिखे अधिकार प्राप्त है—

(१) हकदारान कब्जा मुस्तकिल और शरह मुअइअन काश्तकार दोनो को अपनी जमीन पर पूरा अधिकार है। वे उसे बेच सकते है, रहन कर सकते है और उनके वारिस भी उसे उत्तराधिकार मे प्राप्त कर सकते है।

(२) अवध के खास काश्तकार, साकितुल मिल्कियत काश्तकार, दखीलकार, मौरूसी तथा गैर-दखीलकार काश्तकारो को जमीन वेचने या रहन रखने का अधिकार नही है। वह केवल वारिसो को ही प्राप्त हो सकती है।

(३) प्रत्येक काश्तकार को जोत पर अपनी जमीन दूसरे काश्तकार को उठा देने का अधिकार है। परन्तु यह अधिकार शिकमी काश्तकार तथा सीर के काश्तकार को नही है।

(४) काश्तकार को लिखित पट्टा प्राप्त करने का अधिकार है।

(५) हकदारान कब्जा मुस्तकिल, शरह मुअइअन काश्तकार, अवध मे दखीलकार काश्तकार, या खास अधिकारवाले काश्तकार अपनी जमीन पर कोई भी सुधार कर सकते है[१]। शेष काश्तकारो को भी

१ खेती के सम्बन्ध मे काश्तकारो को निम्नलिखित सुधार करने का अधिकार है—

सब प्रकार के सुधार करने के अधिकार हैं। परन्तु वे निम्नलिखित सुधार जमींदार की लिखित आज्ञा के बिना नहीं कर सकते जबतक कि ऐसा रिवाज ग्राम मे प्रचलित न हो जिससे उन्हे अधिकार प्राप्त हो जाये—

(अ) जोत के पास ही आराम या सुविधा के लिए मकान बनाना,

(ब) खेती के काम के लिए तालाब बनाना।

(६) गैर-दखीलकार काश्तकार को जमींदार की आज्ञा के बिना जोत मे कोई भी सुधार करने का अधिकार नहीं है।

(७) काश्तकारो को अपनी जमीन पर पेड लगाने का अधिकार है।

(८) काश्तकार को लगान अदा करने पर जमींदार से उसके हस्ताक्षर सहित रसीद पाने का अधिकार है।

(९) कृषि-वर्ष के अन्त होने से ३ मास पहले तक काश्तकार को जमींदार से ब्याज का हिसाब प्राप्त करने का अधिकार है।

(१०) बकाया लगान के लिए जो काश्तकार अपनी कुल काश्त या उसके किसी हिस्से से बेदखल किया जायेगा उससे बकाया लगान, चाहे

---

१. अपनी जोत पर अपने या मवेशी के लिए मकान या गोदाम बनाना।

२ जोत की तरक्की के लिए कोई भी काम करना, जिनमें निम्नलिखित काम शामिल हैं—

१. खेतो के लिए कुआ बनाना या पानी जमा करने के लिए प्रबन्ध करना;
२ बाढ़ तथा पानी से फसल की रक्षा के लिए नालियां बनाना,
३ जमीन की सफाई करना, घेरा लगाना तथा उसे समतल बनाना,
४. जोत के समीप आराम के लिए मकान बनाना;
५ खेतो के लिए तालाब बनाना,
६. उपर्युक्त कामो को फिर से बनाना।

उसकी डिग्री हुई हो या न हुई हो, वसूल करने का जमीदार को हक न होगा।

(११) यदि कोई कास्तकार अपनी जोत से बेदखल कर दिया गया हो तो उसे उस गाँव मे उसके रहने के मकान से बेदखल न किया जा सकेगा।

इस कानून मे सयुक्तप्रान्त के ३४ लाख से ऊपर खेतिहर मजदूरो को कोई अधिकार नही दिया गया है। इन खेतिहर मजदूरो की दशा अत्यन्त शोचनीय है। शहरो में, मिलो मे काम करनेवाले मजदूरो के लिए मजूरी, काम के घटे तथा छुट्टियो आदि के सम्बन्ध मे कानून बन गये है परन्तु खेतो पर काम करनेवाले किसानो के सम्बन्ध में अभीतक कोई कानून नही है। उनसे दिन-रात काम लिया जाता है और दो या ढाई आने मजदूरी दे दी जाती है। अक्सर यह मजदूरी भी नही मिलती। प्राय जमीदार बेगार मे ही उनसे काम लेते है। फसल काटने के समय मजदूरी कुछ बढा दी जाती है। स्त्रियो को दो आने रोज से अधिक मजदूरी नही दी जाती। खेतिहर मजदूर वास्तव मे गुलामी की दशा मे है। वे अधिकाश मे उस वर्ग मे से है जिसे 'दलित' कहा जाता है।[1]

वैसे तो समस्त भारत मे खेतो पर काम करनेवाले मजदूरो की अवस्था बुरी है परन्तु बिहार और गुजरात प्रान्त में तो उनकी दशा गुलामो की तरह है। गुजरात में इन्हे हाली और बिहार मे भूमिया कहा जाता है।

हाली खेतो पर काम करनेवाले मजदूर है जो अपनी मर्जी से मजदूरी पर काम नही करते, परन्तु उन्हे बडे-बडे जमीदारो द्वारा स्थायी रूप से पुश्तैनी नौकर बनाकर रखा जाता है और उनके खाने तथा रहने का प्रबन्ध जमीदारो द्वारा ही किया जाता है। ये अपने काम को छोड़कर दूसरी जगह काम नही कर सकते। इस प्रकार इन हालियो और अमरीका के खेतो पर काम करनेवाले उन गुलामो मे कोई अन्तर न[illegible] जो गृहयुद्ध से पूर्व अमरीका मे पाये जाते थे। बस, अन्तर केवल [illegible]

१ डॉ० जेड० ए० अहमद : 'द एग्रेरियन प्रॉ[illegible]

ही है कि अदालतें इन मजदूरों तथा इनकी मजदूरी पर जमींदारों का निरपेक्ष स्वामित्व नहीं स्वीकार करतीं। ये कानूनी रूप से स्वतन्त्र हैं पर वस्तुत. गुलाम हैं।[१]

किसानों का कर्ज़ा

किसान न केवल गरीब, नासमझ और अत्याचार-पीडित ही हैं, वल्कि उनके सिर पर कर्ज का वडा बोझ भी है जिससे वे दवे जारहे हैं। सन् १९३० मे प्राविन्श्यल वैंकिग इन्क्वायरी कमिटी ने किसानो के कर्ज का जो अनुमान लगाया था, यद्यपि वह सर्वांश में सत्य नहीं है, तो भी उससे यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि किसानों पर कर्ज का कितना भारी बोझ है। प्रत्येक प्रान्त में किसानो पर कर्ज़ा करोड रुपयो मे इस प्रकार था—

वम्वई-सिन्ध	८१	विहार-उडीसा	१५५
मद्रास	१५०	आसाम	२२
वगाल	१००	केन्द्रीय प्रदेश	१८
सयुक्तप्रान्त	१२४	ब्रह्मा	५० ५
पजाव	१३५	कुर्ग	३५ ५५ लाख
मध्यप्रान्त-वरार	३६ ५		

उद्योग-व्यवसाय

विगत अर्द्धशताब्दी में, विशेष रूप से विगत महायुद्ध के वाद से, भारत में उद्योग-धन्धो की पर्याप्त उन्नति हुई है। एक समय था जव भारत में उँगलियो पर गिनी जाने लायक मिले थी और उनमें जो माल तैयार होता था वह विदेशी माल के मुकाविले वहुत ही घटिया था। इस समय (सन् १९४०-४१) ब्रिटिश भारत मे कुल रजिस्टर्ड कारखानो की सख्या १०,७८२ है। ९,७४३ कारखाने चले जिनमें ६,०८६ कारखाने सालभर काम करते रहे और ३,६५७ ऋतु-विशेष में।

१ जे० एम० मेहता : 'ए स्टडी ऑव रूलर इकनॉमी ऑव गुजरात'

कारखाने

रुई की धुनाई, कपडे की बुनाई, कोच बनाने, मोटर कारो की मरम्मत करने, इजीनियरिंग, छपाई, जिल्दसाजी और चावल के उद्योगो मे काफी उन्नति हुई है। मोजे, तेल, ग्लास, सीमेंट, ईंट, टाइल, चाय और चमडा बनाने के उद्योगो का भी पर्याप्त विस्तार हुआ है।

इन कारखानो मे काम करनेवाले मजदूरो की सख्या सन् १९३८ मे १७,३८,००० थी। यह अबतक की सख्याओ में सबसे अधिक है। रुई के उद्योग मे ५,१२,००० और जूट के उद्योग मे २,९५,००० मजदूर लगे हुए है। जिनमे २४१,००० स्त्री-मजदूर और १०,७४२ बालक है।

पैदावार

महायुद्ध के बाद भारतीय उद्योग-धन्धो मे जो प्रगति हुई उसका अनुमान निम्नलिखित विवरण से भली भांति लग जाता है

भारत में विदेशो से आनेवाला माल

वस्तुएं	सन् १९१३-१४	सन् १९३८-३९
सूती वस्त्र	५३,२०,५१,०००	२२,६६,२०,०००
लोहा व इस्पात	१२,४८,५०,०००	६,६७,२०,०००
ऊनी कपडा	३,२४,६०,०००	२,८१,९०,०००
कांच का सामान	१,६१,९२,०००	१,२५,१२,०००
तम्बाकू	५२,७४,०००	४०,२७,०००
सीमेंट	५२,७७,०००	१०,०५,०००
शक्कर	१२,९२,५०,०००	४५,४८,०००
मिट्टी का सामान	५२,१९,०००	३९,१९,०००
खिलौने	४०,०५,०००	३७,३०,०००
दियासलाई	१,५३,३१,०००	२३,५२,०००
साबुन	६१,८७,०००	२२,४४,०००
छाते	४१,९६,०००	१४,८७,०००
	८८,२९१,००० रु०	३६,२४,२४,००० रु०

सन् १९३८-३९ में भारत से निम्नलिखित माल विदेशों में भेजा गया :

चीजें	रुपये	चीजें	रुपये
कच्चा जूट	१३,३९,६७,०००	खाने-पीने की चीजें	५९,३२,०००
तैयार जूट	२६,२६,११,०००	रंगने तथा चमडा	
कच्ची रुई	२४,६६,६५,०००	बनाने की चीजें	५९,११,०००
तैयार रुई	७,११,७९,०००	खाद	३७,२२,०००
चाय	२३,४२,४७,०००	मोम	३६,२५,०००
बीज	१५,०९,२२,०००	दवाइयाँ	२७,८३,०००
अनाज,आटा-दाल	७,७४,१२,०००	सुअर के बाल	२६.३२,०००
चमडा	५,२७,५८,०००	शक्कर	२४,१८,०००
धातु	४,९१,०२,०००	हड्डियाँ	२३,७१,०००
ऊन	३,८४,९५,०००	लकडी	२३,६६,०००
कच्चा चमडा	३,८४,६७,०००	ब्रुश तथा झाडन	१५,७१,०००
खली	३,०१,२०,०००	इमारती सामान	१४,७५,०००
तम्बाकू	२,७५,६७,०००	पोशाक	१२,६२,०००
फल-तरकारी	२,२६,८६,०००	गन्धक	१०,८९,०००
कोयला व कोक	१,३६,२५,०००	चारा	८,९६,०००
लाख	१,२६,६५,०००	जानवर (जीवित)	८,२३,०००
भोडर	१,१४,१२,०००	रस्सी	८,१२,०००
तेल	१,०३,३९,०००	रेशम	६,२६,०००
तांबा	९६,०१,०००	टैलो	३,२७,०००
मसाले	७३,६६,०००	सींग	२,३६,०००
कहवा	७५,११,०००	बत्तियाँ	२,०००
गाँजा	७१,९८,०००	अफीम	१,०००
कच्ची रबड	७१,५८,०००	दूसरी चीजें	५,८०,७७,०००
मछलियाँ	६९,२९,०००		१,६२,९२,५५,००० रुपये

भारत के आयात-निर्यात का तुलनात्मक अध्ययन निम्नलिखित अको से किया जा सकता है—

वर्ष	आयात (रुपयो मे)	निर्यात (रुपयो मे)
१९३५	१,१५,३५,७०,१४४	१,४७,२५,०६,८२०
१९३६	१,३२,२८,६४,६५३	१,५१,६६,९७,४९७
१९३७	१,२५,२४,०५,४२५	१,९६,१२,४६,२८६
१९३८	१,३४,४२,३२,३८५	१,६०,५२,३६,९९४
१९३९	१,७३,७८,७६,०८९	१,८०,९२,४२,२२१

ज्वायण्ट स्टॉक कम्पनियों की पूँजी

भारत मे इस समय विविध उद्योग-धन्धो मे कपनियो की जो पूंजी लगी हुई है, उसका अध्ययन यह बताता है कि देश मे उद्योग-धन्धो मे उन्नती हो रही है। १९३६-३७ के अको के अनुसार भारत के बैंकिग, बीमा, जहाजी, रेलवे तथा ट्रामवे कपनियो, रुई, जूट, ऊनी तथा रेशमी मिल, रुई व जूट के प्रेस, आटे के मिल, चाय, दूसरे मिल, कोयला रबर आदि उद्योग-धन्धो और व्यवसायो की भारत मे रजिस्टर्ड कम्पनियो मे २ अरब ९७ करोड ९३ लाख ४४ हजार रुपये की और विदेशो मे रजिस्टर्ड कम्पनियो मे ७ अरब २५ करोड ३९ लाख २ हजार पौंड की पूंजी लगी हुई है।

मजदूरों की दशा

भारतीय उद्योग-धन्धो के विकास में पूंजी और उत्पादन के अन्य साधनो का तो महत्त्व है ही मानव की श्रम-शक्ति का महत्त्व भी कम नही है। पूंजीपति और मिल-मालिक, वास्तव मे, मजदूरो की इस श्रम-शक्ति से ही लाभान्वित होते है। अत मजदूरो का उद्योग मे विशेष स्थान है। जबसे उद्योग-धन्धो मे प्रगति होने लगी है, तबसे मिल मे काम करने वाले मजदूरो की संख्या भी विराट होती जा रही है।

मजदूरो की मजदूरी, काम करने के घण्टे, उनके साथ मालिको का व्यवहार, उनके रहने की व्यवस्था, उनके स्वास्थ्य की रक्षा का प्रबन्ध, उनके

बालको की शिक्षा तथा स्वास्थ्य-रक्षा की व्यवस्था, अपाहिज तथा वृद्ध मजदूरो की वृद्धावस्था में सहायता, छुट्टियो के नियम, वेतन-वृद्धि तथा भत्तो के नियम आदि ऐसे प्रश्न है जिनका अभीतक समुचित समाधान नही हो सका है। यही कारण है कि आज मजदूरो में घोर असन्तोष और अशान्ति है। उनके पास अपनी शिकायतो के दूर कराने के लिए केवल एक ही साधन है और वह है—हडताल।

मजदूरो के पारिश्रमिक (मजदूरी) का प्रश्न बडा विकट है। बड़े-बडे औद्योगिक नगरो में मिलो और कारखानों में काम करनेवाले मजदूर अक्सर ग्रामो से आते हैं। अपने परिवारो को अपने ग्राम में छोडकर, वे शहरो में मजदूरी करने जाते हैं। ऐसे भी मजदूर है जो अपनी स्त्री-बच्चो को साथ ले आते हैं। कारखानो में उन्हें वेतन कम मिलता है और इस पर उन्हें शहर के खर्चीले जीवन का सामना करना पडता है। शहरो में मकानो का किराया अधिक होता है। एक-एक छोटी सी कोठरी में चार-चार-छ -छ स्त्री-पुरुष रहते है। एक-एक कोठरी में, जिसका क्षेत्रफल १२×१२ वर्गफीट होता है, कभी-कभी दो-दो तीन-तीन मजदूरों को सपरिवार रहना पडता है। खाना खाने, बैठने, सोने आदि के लिए ऐसे छोटे-छोटे कमरो का एक भाग ही उन्हे मुशकिल से मिलता है।

अहमदाबाद और बम्बई में मजदूरो के रहने के लिए चालें बनायी गयी है जिनका किराया उन्हे देना पडता है। ये चालें इतनी गन्दी तथा अस्वास्थ्यकर हैं कि इनमें पशुओ को बांधना भी अन्याय होगा।

मिल-मालिको की ओर से अथवा म्यूनिसिपल बोर्डो ने शहरो में मजदूरों के लिए क्वार्टर बनाने का प्रयत्न किया है। परन्तु अभी तक इधर जो प्रयत्न हुआ है वह सतोषप्रद नही है। सयुक्तप्रान्त में ४५६ क्वार्टर बनाये गये है। ये अधिकाश में शक्कर-मिलो की तरफ से बनाये गये है। मद्रास में मजदूरो के लिए कम किराये पर क्वार्टर बनाये गये हैं। कुछ साल पहले डेवलपमेट डिपार्टमेंट द्वारा बम्बई में मजदूरो के लिए चालें बनायी गयी थी। अब उनमें सुधार किया गया है और उनमें

मजदूरो को रहने के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है। २०७ चालो मे से १९२ में अब मजदूर रहने लगे है। इन चालो मे ६३,००० मजदूर रहते है। अहमदाबाद मे म्यूनिसिपल बोर्ड ने १५६ क्वार्टर मजदूरो के लिए बनवा दिये हैं। बगाल मे २० मिलो ने अपने मजदूरो के लिए मकान बनवा दिये है। अजमेर-मेरवाडा, बिहार-उडीसा, मध्यप्रदेश-बरार, देहली तथा सीमाप्रात मे मजदूरो के लिए अभी कोई योजना नही बनायी गयी है।

कानपुर के मजदूरो की दशा की जाँच के लिए ३० अगस्त १९३७ को सयुक्तप्रान्त की सरकार ने एक जाँच-कमेटी बनायी थी। इस कमेटी के सामने कानपुर की मजदूर-सभा की ओर से एक वक्तव्य दिया गया जिसमे मजदूरी के विषय मे लिखा है—

"मिलो में प्रधान-निरीक्षक के कथन से विदित होता है कि सयुक्त-प्रान्त में, जहाँ का मुख्य व्यावसायिक केन्द्र कानपुर है, कपडो की मशीनो पर काम करनेवाले मजदूर को ३३ रुपये और सूत कातने की मशीन पर काम करनेवाले मजदूर को २५ रुपये मासिक मिलते है। पजाब, दिल्ली और बगाल में इससे अधिक मजदूरी नही मिलती। बम्बई की चुनी हुई १९ मिलो की जाँच करने से पता चलता है कि वहाँ मजदूरो को ४० रुपये १२ आने २ पाई से ५४ रुपये ७ आने तक मज-दूरी मिलती है।"

मजदूर-जाँच-समिति को यह विश्वास है कि सयुक्तप्रान्त मे वस्त्र-व्यवसाय की काफी उन्नति हुई है और उसने यह सिफारिश की है कि कानपुर के मजदूरो की मजदूरी म १० से १२ प्रतिशत वृद्धि करदी जावे। कमेटी ने मजदूरो को पाँच श्रेणियो मे विभाजित कर दिया है और उनकी मजदूरी मे इस प्रकार वृद्धि करने की सिफारिश की है

श्रेणी	वृद्धि	कुल वेतन
१३) से १९) रु० तक	२½ आने प्रति रु०	अधिक से अधिक २१।)
१९) से २५) ,, ,,	२ आने ,,	,, ,, २७॥)
२५) से ३२) ,,	१½ आने ,,	,, ,, ३५)
३२) से ४०) ,, ,,	१ आना ,,	,, ,, ४१।)

४०) से ५१) रु० तक ½ आना प्रति रु० अधिक से अधिक ६०॥)

मजदूरों को ४ श्रेणियों में विभाजित किया गया है जिनका वेतन क्रमश ४०) रुपये से अधिक, ३०) से ४०) तक, १५) से ३०) तक और १५) रुपये तक है और उन मजदूरों का औसत आय-व्यय रुपयों मे इस प्रकार है

श्रेणी	आय	व्यय	बचत	घाटा
पहली	५३–८–५	५३–५–९	०–२–८	०–०–०
दूसरी	३५–२–२	३७–५–११	०–०–०	२–३–९
तीसरी	२०–११–२	२२–२–३	०–०–०	१–६–११
चौथी	१२–१०–२	१५–५–६	०–०–०	२–११–४

३०) वेतन पानेवाले मजदूर का औसत व्यय इस प्रकार होता है—

	सपरिवार	अकेला
आटा	३)	२)
दाल	१॥)	१)
शाक-सब्जी	१)	॥)
नमक	१=)	=)
मसाले	१)	।॥)
शक्कर-मिठाई	१)	
दूध-घी	२॥)	
अन्य खाद्य-पदार्थ	१)	॥)
लकड़ी-तेल	३)	२)
वस्त्र	६)	१)
मकान-किराया	२॥)	२)
नाई-धोबी	१)	॥)
तम्बाकू	।॥)	॥-)
शराब	१॥)	१)
[illegible]	२)	२)
[illegible]	२)	१)
	[illegible]	१५)

मजदूरों के हित के लिए कानून

मजदूरो के हितो की रक्षा के लिए प्रान्तीय सरकारो ने कुछ कानून हाल मे बनाये है जिनमें से निम्नलिखित कानून उल्लेखनीय है—

(१) प्रसूता-सहायक-कानून—इससे कारखानो व मिलो मे काम करनेवाली स्त्री-मजदूरो के लिए प्रसव से पूर्व और उसके बाद निर्धारित समय के लिए सवेतन अवकाश देने की व्यवस्था की गयी है।

(२) मजदूर-सघ-कानून—इसके अनुसार मजदूरो को अपने कल्याण के लिए सगठन करने तथा आन्दोलन करने का अधिकार प्राप्त है।

(३) मजदूर-विवाद-कानून—इसके अनुसार मिल-मालिको तथा मजदूरो के पारस्परिक झगडो को शान्तिपूर्वक निपटाने की व्यवस्था की गयी है।

(४) मजदूर-क्षतिपूर्ति-कानून—कार्यकाल मे किसी मजदूर की मृत्यु हो जाये या उसे कोई शारीरिक हानि पहुँचे तो इससे उसे मुआविजा देने की व्यवस्था की गयी है।

: १६ :

राष्ट्रीय जीवन

शासन-पद्धति

आजकल भारत का शासन सन् १९३५ के भारत-सरकार-कानू
अनुसार चल रहा है। इस कानून से पहले सभी भारत-सरकार-क
केवल ब्रिटिश भारत मे ही लागू होते थे लेकिन इस शासन-विधान
सबध प्रान्तो और देशी राज्यो दोनों से है। इस विधान के दो प्र
भाग है। एक भाग में सघ-शासन की योजना है और दूसरे भाग
प्रान्तीय शासन की।

भारतीय सघ-शासन

भारतीय सघ-राज्य के दो प्रधान अग निर्धारित किये गये है
(१) गवर्नरो के प्रान्त और (२) देशी राज्य। इसमे चीफ कमिश्नर
प्रान्त भी शामिल है।

भारतीय शासन मे गवर्नर-जनरल और वायसराय ये दो अल
अलग पद है। गवर्नर-जनरल सम्राट की ओर से भारतीय सघ
सर्वोच्च शासक होगा। वायसराय की हैसियत से वह उन देशी नरे
का नियत्रण करेगा जो सघ-राज्य मे शामिल न होगे और उन विष
का भी जो सम्राट् उसे सौप दे। गवर्नर-जनरल की नियुक्ति के स
सम्राट् की ओर से आदेश-पत्र दिया जायेगा जिसके अनुसार
भारत का शासन करेगा। इस आदेश-पत्र मे दो बाते विशेषत उल्ले
नीय है। गवर्नर-जनरल उस व्यक्ति के परामर्श से मत्रियो को नियु
करेगा जिसके साथ उसके विचार मे व्यवस्थापक सभा का बहुमत होगा
वह अपने अधिकारो का प्रयोग मत्रियो के परामर्श से उस समय त
करेगा जबतक कि उसकी विशेष जिम्मेदारियो मे कुछ बाधा न पडे

भारतीय सघ-शासन की मुख्य विशेषता है उत्तरदायित्व का अभा
तथा द्वैध-शासन-प्रणाली की स्थापना। सन् १९३५ से पहले जिस प्रका

भारत के प्रान्तो मे शासन होता था, केन्द्र मे भी उसी पद्धति की स्थापना की गयी है।

सेना, ईसाई-धर्म, पर-राष्ट्र नीति और पिछडे प्रदेशो का शासन 'सुरक्षित विषय' कहे गये है। इन विषयो का शासन-प्रबन्ध गवर्नर जनरल भारत-मत्री के नियत्रण मे स्वेच्छानुसार करेगा। वह अपनी सुविधा के लिए सुरक्षित विषयो के प्रबन्ध मे सहायता के लिए तीन परामर्शदाता नियुक्त कर सकेगा। इस प्रकार उपर्युक्त सुरक्षित विषय और अपनी विशेष जिम्मेदारियो को छोडकर सघ-शासन के अन्य विषयो का राज-प्रबन्ध गवर्नर-जनरल मत्रि-मडल के परामर्श से करेगा। मत्रि-मडल मे १० सदस्य होगे जिनकी नियुक्ति गवर्नर-जनरल के द्वारा होगी।

गवर्नर-जनरल के विशेष उत्तरदायित्व निम्नलिखित है—

(१) भारतवर्ष या उसके किसी भाग मे शान्ति-भग करनेवाले खतरो का निवारण,

(२) सघ-शासन की आर्थिक स्थिरता और साख का सुरक्षित रखना,

(३) अल्प-सख्यक जन समुदायो के उचित हितो की रक्षा करना,

(४) सरकारी नौकरियो के सदस्यो और उनके आश्रितो को शासन-विधान द्वारा दिये गये अधिकार दिलाना और उनकी रक्षा करना,

(५) व्यापारिक और जातिगत भेदभाव-सबन्धी उन नियमो पर अमल करना जिनकी व्यवस्था विधान के पाचवे भाग के तीसरे अध्याय मे की गयी है,

(६) ब्रह्मा और इग्लैड के बने हुए आयात-माल के सबध मे ऐसे कामो को रोकना जिनके कारण इस माल के साथ भेद भाव की नीति का व्यवहार होता हो,

(७) देशी रियासतो और उनके नरेशो के अधिकारो व मर्यादा की रक्षा करना,

(८) इस बात का प्रबन्ध करना कि अपने विवेक एव व्यक्तिगत निर्णय द्वारा किये जानेवाले कार्यो के सपादन मे [illegible] से बाधा न पडे।

उपर्युक्त विषयो के शासन में गवर्नर-जनरल अपनी नीति और कार्यों के लिए भारतमंत्री के प्रति उत्तरदायी होगा और अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य-संपादन करेगा। गवर्नर-जनरल पर भारतमंत्री का नियंत्रण है। इसके अतिरिक्त उसपर किसी भारतीय संघ-संस्था या जनता का नियंत्रण नहीं है और न वह संघ के प्रति उत्तरदायी ही है। वह भारत का सर्वेसर्वा है।

संघीय व्यवस्थापक-मण्डल में सम्राट का प्रतिनिधि गवर्नर-जनरल, कौंसिल ऑव स्टेट और हाउस ऑव असेम्बली शामिल है। कौंसिल ऑव स्टेट में २६० सदस्य होंगे। इनमें से १५६ ब्रिटिश भारत के और १०४ देशी राज्यो के होगे। चुनाव साम्प्रदायिक प्रणाली के आधार पर होगा। उसके अधिकांश सदस्यो का चुनाव जनता द्वारा होगा। हिन्दू, सिख तथा मुस्लिम प्रतिनिधियों का चुनाव उन्हींके सम्प्रदायो के निर्वाचको द्वारा होगा। बडे देशी राज्यो को अकेले एक सदस्य और छोटी रियासतों को कई मिलकर एक प्रतिनिधि मनोनीत कर भेजने का अधिकार होगा। एंग्लो-इंडियन, यूरोपियन, भारतीय ईसाई और दलित जातियों के प्रतिनिधि परोक्ष निर्वाचन द्वारा चुने जायेंगे और इनके चुनाव में वे ही व्यक्ति मताधिकारी होंगे, जो प्रान्तीय व्यवस्थापक-मण्डल के सदस्य होंगे। इस कौंसिल का कार्य-काल ९ वर्ष का होगा। एक तिहाई सदस्य ३ साल के लिए, एक तिहाई ६ साल के लिए और शेष एक तिहाई ९ साल के लिए होंगे। $\frac{1}{6}$ सदस्यो का कोरम होगा और साल में एक बार अधिवेशन अवश्य होगा।

हाउस ऑव एसम्बली में ३७५ सदस्य होंगे। इनमें से २५० ब्रिटिश भारत के और १२५ देशी राज्यों के होंगे। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि विभिन्न प्रान्तो मे इस प्रकार होंगे—मद्रास ३७, बम्बई ३०, बंगाल ३७, संयुक्तप्रान्त ३७, पंजाब ३०, बिहार ३०, मध्यप्रान्त व बरार १५, आसाम १०, सीमाप्रान्त ५, उडीसा ५, सिन्ध ५, ब्रिटिश बिलोचिस्तान १, दिल्ली २, अजमेर १ और कुर्ग १। ३ प्रतिनिधि उद्योग-धन्धो के और १ मजदूरो का होगा। चुनाव साम्प्रदायिक आधार पर होगा।

असेम्वली का जीवन-काल ५ वर्ष होगा। उसकी अवधि नही वढायी जायेगी। असेम्वली के सदस्यो का चुनाव परोक्ष रूप से प्रान्तीय असेम्वली के सदस्यो के आनुपातिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के आधार पर होगा।

उपर्युक्त सघीय व्यवस्थापक-मण्डल के तीन अधिकार होगे। (१) शासन-निरीक्षण (२) नियम-निर्माण और (३) आर्थिक।

गवर्नर-जनरल के सुरक्षित विषयो, विशेष उत्तरदायित्वो और व्यक्तिगत निर्णयो के कामो को छोडकर, सघीय-मन्त्रि-मडल हस्तान्तरित विषयो के शासन मे सामूहिक रूप से सघीय व्यवस्थापक-मण्डल के प्रति उत्तरदायी होगा। प्रत्येक सदस्य को नियमानुसार मन्त्रियो से उनके कार्यो के वारे मे प्रश्न पूछकर उत्तर मांगने का अधिकार होगा। वे शासन-विभाग की आलोचना करते हुए स्थगित प्रस्ताव भी रख सकेंगे। कानून वनाने की सुविधा के लिए शासन-विधान द्वारा समस्त विषय प्रान्तीय और सघीय दो श्रेणियो मे विभाजित कर दिये है। सघीय व्यवस्थापक-मण्डल को सम्पूर्ण सघीय विषयो पर कानून वनाने का अधिकार होगा।

कौंसिल ऑव स्टेट तथा असेम्वली दोनो का एक-एक निर्वाचित अध्यक्ष-उपाध्यक्ष तथा प्रधान-उपप्रधान होगा।

प्रत्येक कानून दोनो सभाओ की स्वीकृति से वनाया जायेगा। गवर्नर-जनरल कानून वनाने के लिए दोनो का सयुक्त अधिवेशन भी आमन्त्रित कर सकेगा। उसकी स्वीकृति के विना कोई भी 'विल' ऐक्ट नही वन सकेगा। गवर्नर-जनरल को स्वेच्छानुसार आर्डिनेंस जारी करने तथा कानून वनाने का भी अधिकार होगा। आवश्यकता पडने पर वह सारे शासन विधान को स्थगित कर उसकी बागडोर अपने हाथ मे ले सकेगा।

भारतीय सघ के प्रान्तो व राज्यो के पारस्परिक झगडो, विधान-सबधी निर्णय तथा व्याख्या के लिए एक सघीय-न्यायालय होगा। इस न्यायालय मे कोई भी मामला नियमानुसार निर्णय के लिए प्रस्तुत किया जा सकेगा और अपील भी की जा सकेगी। प्रान्तो मे या देशी रजवा

मे यदि किसी अधिकार के सबध मे झगडा होगा, तो सघीय न्यायालय को निर्णय देने का अधिकार होगा।

सक्षेप मे यह भारत के केन्द्रीय शासन की रूप-रेखा है। विधान के अनुसार-सघ शासन की स्थापना के लिए दो शर्तों की पूर्ति आवश्यक है

(१) कम-से-कम इतने देशी राज्य सघ में शामिल होने के लिए तैयार हो जायें जो कौंसिल ऑव स्टेट में ५२ सदस्य भेज सके और जिनकी जन-सख्या समस्त देशी राज्यो की जन-सख्या की आधी हो।

(२) प्रथम शर्त की पूर्ति के पश्चात, यदि ब्रिटिश पार्लमेंट की दोनो सभाएँ सम्राट से सघ-राज्य स्थापित करने की प्रार्थना करे, तो सम्राट इस आशय की घोषणा करेगे कि अमुक तिथि से सम्राट के अधीन सघ-शासन स्थापित किया जाये।

जब सन् १९३५ मे ब्रिटिश पार्लमेंट ने भारत का शासन-विधान स्वीकृत किया तभी से भारत के वायसराय लार्ड लिनलियगो द्वारा देशी राज्यो को सघ में शामिल कराने के लिए प्रयत्न हो रहा था। परन्तु नरेशो ने अपनी स्वीकृति नही दी थी। इतने ही मे सितम्बर १९३९ मे इग्लेंड और जर्मनी मे युद्ध छिड गया और सरकार ने भारतीय सघ की स्थापना के प्रयत्न को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया।

भारतीय लोकमत ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा प्रस्तावित इस सघ-योजना के विरुद्ध शुरु से ही है। काग्रेस तो सम्पूर्ण शासन-विधान को अस्वीकार्य घोषित कर चुकी है और सघ-योजना के अनुसार शासन की स्थापना न होने देने के लिए भी वह प्रयत्न कर रही थी। मुस्लिम लीग भी सघ-योजना के विरुद्ध है, परन्तु उसका दृष्टिकोण और उद्देश्य भिन्न है। देशी राज्यो के नरेश भी इसके विरुद्ध हैं।

ऊपर कहा जा चुका है। कि भारतीय शासन-विधान के 'सघ-शासन' और प्रान्तीय स्वराज्य' दो प्रमुख अग हैं। इनमें से 'प्रान्तीय स्वराज्य' की स्थापना भारत के ग्यारहो प्रान्तो मे १ अप्रैल १९३७ से हो गयी है। अब प्रश्न यह है कि 'प्रान्तीय स्वराज्य' की स्थापना के बाद से 'सघ-शासन'

तक के काल मे भारत का केन्द्रीय शासन किस प्रणाली पर होगा ? इस सक्रमण-काल मे सपरिषद् गवर्नर-जनरल सघीय शासन-विभाग का काम करेगा और केन्द्रीय व्यवस्थापक-मण्डल सघीय व्यवस्थापक-मण्डल का। गवर्नर-जनरल की सारी जिम्मेदारियाँ नये विधान के अनुसार होगी। वह भारत-मत्री के आधीन होगा। फेडरल पवलिक सर्विस कमीशन, फेडरल रेल्वे ऑथारिटी तथा फेडरल कोर्ट की स्थापना हो चुकी है। शासन-विधान मे परिवर्तन पार्लमैंट द्वारा अथवा आर्डर-इन-कौंसिल द्वारा ही हो सकेगा।

प्रान्तीय शासन-प्रणाली

भारत मे दो प्रकार के प्रान्त है (१) गवर्नर के प्रान्त और (२) चीफ कमिश्नर के प्रान्त। गवर्नरो से शासित ११ प्रान्त है—वगाल, मद्रास, वम्वई, सयुक्त-प्रान्त, पजाब,विहार, उडीसा, आसाम, सिंध, सीमा-प्रान्त और मध्यप्रान्त तथा चीफ कमिश्नरो के प्रान्त है—ब्रिटिश विलोचिस्तान, अजमेर-मेरवाडा, दिल्ली, कुर्ग अन्डमान-निकोवार और पथ-पिपलोदा।

सन् १९३५ के विधान के अनुसार केवल उपर्युक्त ११ गवर्नरो के प्रान्तो मे ही उत्तरदायी शासन की स्थापना की गयी है। इसीको 'प्रान्तीय स्वराज' कहा जाता है। गवर्नर-जनरल की भाँति गवर्नरो को भी नियुक्ति के समय आदेश-पत्र मिलता है। इस आदेश-पत्र मे यह वतलाया जाता है कि वे अपने अधिकारो का प्रयोग किस प्रकार कर सकते है ? गवर्नर उस व्यक्ति के परामर्श से अपने मत्रियो को नियुक्त करेगा जिसके साथ, उसके विचार मे, प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभा (असेम्वली) का बहुमत हो। वह अल्पसख्यक जन-समुदायो के प्रतिनिधियो को जहाँ-तक सभव होगा, मिलाने की कोशिश करेगा और इस वात का ध्यान रखेगा कि समस्त मन्त्रि-मडल मे व्यवस्थापक-मडल को विश्वास हो। वह मन्त्रि-मण्डल के सयुक्त उत्तरदायित्व पर जोर देगा। प्रान्तीय गवर्नर अपने शासन-सबधी अधिकारो का उपयोग मन्त्रियो के परामर्श से तवतक

करेगा जबतक उसके विशेष उत्तरदायित्वो को पूरा करने मे कोई बाधा न पड़े। विशेष उत्तरदायित्वो को पूरा करने मे बाधा पडने पर वह मत्रियो के परामर्श से प्रतिकूल व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य-सपादन करेगा।

प्रत्येक प्रान्त के शासन में गवर्नर की सहायता करने और उसे परामर्श देने के लिए एक मत्रि-मडल होता है। मत्रि-मडल के सदस्यो की सख्या निर्धारित नही है। किसी प्रान्त मे ३ मत्री है, किसी में १०, किसी मे ६। मत्रियो की नियुक्ति व्यवस्थापक-मडल मे बहुमत-दल के नेता के परामर्श से गवर्नर द्वारा की जाती है। उसी बहुमत-दल का नेता प्रधान-मत्री होता है। प्रत्येक मत्री का व्यवस्थापक-मण्डल का सदस्य होना आवश्यक है।

गवर्नरो के विशेष उत्तरदायित्व इस प्रकार है—

(१) प्रान्त या उसके किसी भाग मे शान्ति-भग करनेवाले खतरो को दूर करना,

(२) अल्प-सख्यक जनसमुदायो के उचित हितो की रक्षा करना,

(३) सरकारी नौकरियो के सदस्यो और उनके आश्रितो को शासन-विधान द्वारा दिये गये अधिकारों को दिलाना और उनके उचित अधिकारो की रक्षा करना,

(४) इगलेंड और ब्रह्मा के बने हुए आयात माल के सबध में ऐसे कामो को रोकना जिनके कारण इस माल के साथ भेदभाव-सबधी नीति का व्यवहार होता हो,

(५) प्रान्त के जिन भागो को नये शासन-विधान के अनुसार पृथक् घोषित किया जाये उनके शासन तथा सुव्यवस्था का प्रबध करना,

(६) देशी राज्यो के अधिकारो और उनके नरेशो के अधिकारो और मर्यादा की रक्षा करना,

(७) गवर्नर-जनरल के उन आदेशो पर अमल करना जो वह अपने व्यक्तिगत निर्णय अथवा विवेक के द्वारा किये गये कार्यों के लिए जारी करे।

उपर्युक्त विषयो का शासन प्रान्तीय गवर्नर स्वेच्छानुसार करते है। इस प्रकार प्रान्तो मे आज भी पूर्ण उत्तरदायी शासन-प्रणाली जारी नही है। उपर्युक्त कार्यो के अतिरिक्त और भी कार्य है जिन्हे गवर्नर अपने विवेक या व्यक्तिगत निर्णय से करते है और जिनके लिए वे प्रान्तीय व्यवस्थापक-मण्डल के प्रति उत्तरदायी नही होते।

गवर्नरों के अधिकार

गवर्नरो को तीन प्रकार के अधिकार प्राप्त है—शासन-सबधी (Executive), व्यवस्था-सबधी (Legislative) तथा आर्थिक (Financial)।

(१) शासन-सम्बन्धी अधिकार—

(१) मन्त्रि-मडल की नियुक्ति,

(२) मन्त्रि-मडल के अधिवेशनो का सभापतित्व,

(३) एडवोकेट जनरल की नियुक्ति तथा पदच्युति,

(४) आतकवाद के दमन के लिए विशेष व्यवस्था,

(५) मन्त्रि-मडल के कार्यो के सचालन के लिए नियम बनाना,

(६) वैधानिक शासन-पद्धति के असफल होने पर अपने विवेक के अनुसार घोषणा द्वारा उसके अन्तर्गत उल्लिखित सारे काम अपने विवेक या इच्छानुसार कर सकते है और आवश्यकतानुसार, हाई-कोर्ट के अधिकारो के अतिरिक्त, किसी भी प्रान्तीय शासन-सस्था के अधिकारो को स्वय प्रयोग कर सकते है। इस प्रकार की घोषणा की सूचना भारत मन्त्री द्वारा पार्लमेंट को देनी पडती है। छ मास बाद इसका कार्यकाल पार्लमेंट की स्वीकृति से बढाया जा सकता है। इस घोषणा के अनुसार शासन अधिक-से-अधिक तीन वर्ष तक किया जा सकता है।[1]

---

१ यूरोपीय युद्ध के प्रश्न पर कांग्रेसी मन्त्रि-मडलो द्वारा त्याग-पत्र दे देने के बाद नवम्बर सन् १९३९ से भारत के उन प्रान्तो (मद्रास, बम्बई, सयुक्तप्रान्त, मध्यप्रदेश, बिहार, उड़ीसा तथा सीमाप्रान्त) मे गवर्नरो द्वारा परामर्शदाताओ की सहायता से शासन होरहा है। प्रान्तीय व्यवस्थापक-मण्डल स्थगित कर दिये गये है।

(२) व्यवस्था-संबंधी अधिकार—

(१) व्यवस्थापक सभाओ के अधिवेशन आमन्त्रित करने तथा विसर्जन करने का अधिकार,

(२) व्यवस्थापक-मडल भग करने का अधिकार,

(३) दोनो सभाओ के सयुक्त अधिवेशन आमन्त्रित करना,

(४) सदस्यो या मन्त्रियो का त्यागपत्र मजूर करना,

(५) प्रान्तीय व्यवस्थापक-मडल द्वारा पास कानूनो पर स्वीकृति देना या न देना गवर्नर-जनरल के लिए सुरक्षित रखना,

(६) किसी भी कानून के मसविदे को पुर्नविचार के लिए पुन व्यवस्थापक सभा मे भेजना,

(७) आर्डिनेस जारी करना,

(८) गवर्नर के कानून बनाना और जारी करना,

(३) आर्थिक अधिकार—

(१) प्रान्तीय व्यय की सारी माँगें गवर्नर की सिफारिश पर प्रान्तीय व्यवस्थापक सभा में पेश की जाती है। व्यय के दो भाग हैं—

(अ) प्रातीय व्यय का वह भाग जिसका उल्लेख विधान मे किया गया है।

(व) वह व्यय जिसकी माँग प्रथम भाग के अतिरिक्त पेश की जाती है।

अमुक माँग प्रथम भाग की है या द्वितीय की—इसका निर्णय गवर्नर पर निर्भर है। प्रथम भाग की मांग पर व्यवस्थापक सभा को मत देने का अधिकार नही है। द्वितीय भाग की मांगो पर सभा की राय जरूरी है।

प्रान्तीय व्यवस्थापक-मडल

नये विधान के अनुसार भारत के केवल छ प्रान्तो बगाल, मद्रास, बम्बई, सयुक्तप्रान्त, बिहार और आसाम मे व्यवस्थापक-मडल के अन्तर्गत दो सभाएँ है जो कौंसिल और असेम्बली कहलाती है। शेष ५ प्रान्तो में केवल एक व्यवस्थापक सभा है जो असेम्बली कहलाती है। प्रान्तीय कौसिलें स्थायी सस्थाएँ है और उनका कार्यकाल ९ वर्ष का है। प्रति

तीसरे वर्ष एक तिहाई सदस्य नये चुने जाते है। उसके सगठन का आधार साम्प्रदायिकता है। असेम्बली की रचना भी साम्प्रदायिक है।[१]

व्यवस्थापक-मण्डल के अधिकार तीन प्रकार के है—(१) शासन-नियन्त्रण (२) कानून निर्माण (३) आर्थिक।

(१) शासन नियन्त्रण—

प्रान्तीय गवर्नर अपने विवेक और व्यक्तिगत निर्णय के कामो को छोडकर शेष सब कार्य अपने मन्त्रि-मडल की सहायता एव परामर्श से करते है। गवर्नर के द्वारा किये जानेवाले उन कार्यो पर जिन्हे वे अपने व्यक्तिगत निर्णय या विवेक से करते है प्रान्तीय व्यवस्थापक-मण्डल का कोई अधिकार नही है। व्यवस्थापक-मण्डल का कोई भी सदस्य किसी भी सरकारी विभाग की नीति व कार्य के सबध मे प्रश्न पूछ सकता है और मन्त्रियो को ऐसे प्रश्नो का उत्तर देना होता है। शासन-नीति के विरोध के लिए व्यवस्थापक सभा के अधिवेशन को स्थगित करने के लिए प्रस्ताव पेश किया जा सकता है। अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकार हो जाने पर मन्त्रि-मडल को त्याग-पत्र देना पडता है।

---

१ प्रान्तीय कौंसिलो का सगठन इस प्रकार है—

प्रांत	सामान्य	मु०	यूरो०	हि०ईसाई	असेंबली द्वारा नियुक्त	गवर्नर द्वारा नियुक्त	योग
मद्रास	३५	७	१	३	•	८ से १०	५६
बम्बई	२०	५	१			३ से ४	३०
बगाल	१०	१७	३	•	२७	२ से ८	६५
सयुक्तप्रात	३८	१७	१	•		२ से ८	६०
बिहार	९	०	१		१२	३ से ०	३०
असाम	१०	२	२	•		३ से ०	[illegible]

प्रान्तीय असेम्बलियो का सगठन इस प्रकार है—

प्रान्त	कुल सदस्य	हिन्दू	दलितों के सुरक्षित स्थान	पिछड़ी जातियाँ व प्रदेश	सिक्ख	मुसलमान	एंग्लो इंडियन	यूरोपियन	हि० ईसाई	व्यापार-संघ	मजदूर	जमींदार	विश्वविद्यालय	महिला
मद्रास	२१५	१४६	३०	१	०	२८	२	३	८	६	६	६	१	८
बंगाल	१७५	११४	१५	१	०	२९	२	३	३	७	८	२	१	६
बम्बई	२५०	७८	३०	०	०	११७	३	११	२	१९	८	५	२	५
संयुक्तप्रांत	२२८	१४०	२०	०	०	६४	१	२	२	३	३	६	१	६
पंजाब	१७५	४२	८	०	३१	८८	१	१	२	१	३	५	१	४
बिहार	१५२	८६	१५	७	०	३९	१	२	१	४	३	४	१	४
मध्यप्रान्त	११२	८४	२०	१	०	१४	१	१	०	२	२	३	१	३
आसाम	१०८	४७	७	९	०	३४	०	१	१	११	४	०	०	१
सीमाप्रान्त	५०	९	०	०	३	३६	०	०	०	०	०	२	०	०
उड़ीसा	६०	४४	६	५	०	४	०	०	१	१	१	२	०	२
सिन्ध	६०	१८	०	०	०	३३	०	२	०	२	१	२	०	२

करता है और सुचारु रूप से काम चलाने के लिए अर्थ-समिति, शिक्षा-समिति, जल-व्यवस्था-समिति, पब्लिक वर्क्स कमेटी आदि उपसमितियाँ निर्वाचित करता है।

म्युनिसिपल वोर्ड अपने कार्य-सचालन में एक वडी सीमा तक स्वतन्त्र है, परन्तु कमिश्नर और सरकार का उनपर नियत्रण होता है। नागरिक जीवन को अधिक-से-अधिक सुखी वनाना ही इनका मुख्य लक्ष्य है। वे जनता की प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था करते हैं, स्वास्थ्य की रक्षा के लिए नियमो का पालन कराते है, भोजन की शुद्धि और पवित्रता की रक्षा कराते है, मकान आदि वनाने के लिए मजूरी देते है और अपने नगरवासियो पर अनेक तरह के कर भी लगाते है।

ज़िला-वोर्ड

ज़िले के प्रवन्ध के लिए प्राय प्रत्येक ज़िले मे एक वोर्ड होता है, जिन्हे प्रान्तीय सरकार वनाती है। भारत में कुल २०७ ज़िला वोर्ड है। इनकी भी रचना, सगठन, कार्य-प्रणाली, अधिकार इत्यादि म्युनिसिपल वोर्ड के समान ही है और चुनाव भी साम्प्रदायिक प्रणाली के आधार पर होता है।

ग्राम-पंचायतें

प्रत्येक प्रान्तीय सरकार अपने प्रान्त मे ग्राम-पचायत-कानून द्वारा ग्राम-पचायतो की स्थापना करती है। (वगाल में इन्हे यूनियन-वोर्ड कहा जाता है) ये ग्राम-पचायते ग्रामो के स्थानीय मामलो से सम्बन्ध रखती है। प्रत्येक गाम या कई ग्रामो की एक ग्राम-पचायत होती है। इसकी सदस्य-सख्या ५ या इससे अधिक होती है। ग्राम-पचायत के सदस्य, जिन्हे सरकार मनोनीत करती है, 'पच' कहलाते है। कहीं-कहीं (जैसे मध्यप्रान्त में) पचो का चुनाव होता है और कहीं-कहीं (जैसे सयुक्तप्रान्त मे) उनकी नियुक्ति कलेक्टर करता है।

इन पचायतो के अधिकार दो प्रकार के है—(१) न्याय-सवधी और (२) शासन-सवधी।

सयुक्त-प्रान्त मे ग्राम-पचायते निम्नलिखित फोजदारी-दीवानी झगडो की जांच करतो और फैसले देती है—

(१) २५) रुपये तक के रुपये-पैसे के मुकद्दमे,

(२) साधारण मार-पीट या १०) रुपये तक की चोरी या १०) रुपये तक की हानि या जानबूझकर अपमान करने के फोजदारी मुकद्दमे,

(३) जानबूझकर जानवर पकडने और स्वास्थ्य-सम्बन्धी बातो पर ध्यान न देने के मुकद्दमे।

ग्राम-पचायतो को फौजदारी के मामलो मे १०) रुपये, मवेशियो के मामलो मे ५) रुपये और स्वास्थ्य-सम्बन्धी मामलो मे १) रुपये तक जुर्माना करने का अधिकार है, परन्तु मुचलके की कार्रवाई करने पर जमानत लेने अथवा कैद की सजा देने का अधिकार नही है।

पचायतो के शासन-सम्बन्धी-कार्य निम्नलिखित है—

ग्रामो मे सडके बनाना, रास्ते बनाना, नये कुएँ बनाना, तालाबो और कुओ की सफाई, स्वास्थ्य-सम्बन्धी बातो की देखभाल, ग्रामवालो की शिक्षा, उनके खेल-तमाशो का प्रबन्ध, स्मशान-भूमि की व्यवस्था आदि। लेकिन बगाल के 'यूनियन बोर्ड' के अधिकार क्षेत्र मे सफाई, सार्वजनिक हित के काम आदि की भी देखभाल होती है।

राष्ट्रीय नवजागरण

राष्ट्रीयता का उदय

पृथ्वीराज के पतन के बाद से ही मुस्लिम शासन की जड जमी, जो मुगल साम्राज्य के निर्मूल होने पर उखडी, किन्तु उसको निर्मूल करनेवाली भी एक विदेशी सत्ता ही थी। मुगल खानदान के सदियो लम्बे शासन-काल मे ही अग्रेजो ने भारतवर्ष मे अपना सिक्का जमाने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया था। सन् १६०८ में व्यापार के लिए आये हुए अग्रेजो ने सूरत नगर मे अपनी पहली व्यापारिक कोठी बनायी। इसके तीन साल बाद इग्लैण्ड के राजा ने सर टामस रो को जहाँगीर के दरबार मे अपना राजदूत नियुक्त करके भेजा। इसी समय से भारत में

अंग्रेजी व्यापार की जड़ जम गयी। धीरे-धीरे तराजू के साथ-साथ तल-वार का राज्य भी जमने लगा।

मुगल शासन-काल और कम्पनी के शासन-काल में भारतीय जनता पतन की सीमा तक पहुँच चुकी थी। राजनीतिक पराधीनता के साथ-साथ भारतवासियों में सामाजिक तथा धार्मिक पतन के लक्षण भी साफ-साफ दिखायी देने लगे। दस्तकारियों और ग्रामोद्योगों के नाश के साथ-साथ संस्कृति, कला तथा साहित्य का भी ह्रास होने लगा। हिन्दू लोग ईसाई धर्म के प्रति आकर्षित होने लगे और अपनी भाषा, साहित्य और धर्म का परित्याग कर विदेशी (ईसाई) धर्म, संस्कृति तथा भाषा को अपनाने लगे।

एक ओर भारतीय जीवन में इस अवाछनीय परिवर्तन ने हिन्दू समाज के सामने एक भयानक समस्या ला दी, दूसरी ओर कम्पनी के शासक मनमाने ढंग से जनता का शोषण करने लगे। सन् १८५७ में जो भारतीय विद्रोह (गदर) हुआ वह इसी दुःशासन के प्रति विद्रोह था। यह भारत का अन्तिम सशस्त्र विद्रोह था जिसमें राजा-रंक सभी ने भाग लिया था।

इस प्रकार भारत में राष्ट्रीयता के उदय का बीज वहाँ के विदेशी शासन की दमन और शोषण-नीति में ही छिपा हुआ है।

हमारे आचार-विचार, धर्म, संस्कृति आदि की भावनाओं को बदलने-वाली हानिकर पाश्चात्य शिक्षा का एक लाभ यह भी हुआ कि भारतीयों में पश्चिम के नवीन राजनीतिक आदर्शों तथा सिद्धान्तों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति हुई। भारतवासी विदेशों में अध्ययन के लिए गये और वहाँ के स्वतन्त्र वातावरण में उन्होंने नयी प्रेरणाएँ पायीं। विदेशों में स्वतन्त्रता और समानता का जैसा स्वप्न उन्होंने देखा, स्वदेश में आने पर उसका उन्होंने अभाव पाया। [illegible] का बीज हुआ। फलस्वरूप [illegible] में [illegible] हुआ।

उन्नीसवीं सदी में राष्ट्रीय धार्मिक पुनर्जागरण का आरम्भ [illegible] सूत्रपात हुआ। राजा राममोहनराय ने बंगाल में ब्रह्मसमाज की

स्थापना की। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और श्री केशवचन्द्रसेन ने उनके कार्य में सहयोग दिया। बम्बई मे प्रार्थना-समाज स्थापित हुआ। न्यायमूर्ति रानाडे, सर रामकृष्ण भंडारकर और सर नारायण चन्द्रावरकर ने बम्बई में हिन्दू-समाज-सुधार आन्दोलन की नीव डाली। श्री ईश्वरचन्द्र विद्या-सागर ने विधवा-विवाह आन्दोलन का श्रीगणेश किया। श्री प्यारीचरण सरकार ने मद्य-निषेध-आन्दोलन द्वारा जनता के स्वास्थ्य-निर्माण मे योग दिया। महर्षि दयानन्द ने 'आर्य-समाज' की स्थापना करके उनके द्वारा ज्ञान-प्रचार से अंधविश्वासो या रूढियो को छिन्न-भिन्न करने का काम किया। स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ "सत्यार्थ-प्रकाश" में लिखा है कि "विदेशी राज्य से, चाहे वह कितना ही अच्छा क्यो न हो, स्वदेशी राज्य, चाहे उसमे कितनी ही त्रुटियाँ क्यो न हो, अच्छा होता है।" आर्य-समाज ने भारत मे धार्मिक जाग्रति के साथ-साथ सामाजिक सुधार तथा राजनीतिक स्वाधीनता का भी मार्ग दिखाया।

मद्रास प्रान्त मे थियोसाफिकल सोसायटी (ब्रह्मविद्या-समाज) की स्थापना हुई। इसकी संचालिका श्रीमती ब्लावस्टकी और उनके सह-योगी कर्नल आल्कर ने राष्ट्रीय जागरण मे प्रमुख योग दिया। श्रीमती वासन्तीदेवी (ऐनी बीसेंट) ने इस कार्य को आगे बढाया। प्राचीन भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार के लिए समाज ने पर्याप्त उद्योग किया। रामकृष्ण परमहंस और उनके योग्य शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त का भारत में ही नही विदेशो में, और विशेषरूप से अमरीका मे भी प्रचार किया।

यद्यपि मूलत ये आन्दोलन धार्मिक थे, किन्तु उनका एकमात्र लक्ष्य विदेशी जाति द्वारा शासित प्रजा मे नवचेतना तथा नवजागरण की भावना उत्पन्न करना ही था। इन आन्दोलनो ने भारतवासियो के हृदय पर पुन यह छाप लगादी कि आर्य-संस्कृति ही सर्वश्रेष्ठ है, वैदिक धर्म ही प्राचीन और सर्वश्रेष्ठ धर्म है, भारत का प्राचीन इतिहास बडा गौरवपूर्ण है आदि। इस विचारधारा से जनता मे देशभक्ति की भावना उत्पन्न हुई।

धार्मिक पुनरुत्थान के साथ-साथ कला, साहित्य तथा औद्योगिक

क्षेत्रों में भी राष्ट्रीयता की भावना का प्रचार होने लगा। साहित्यकारों ने अपने नाटकों, काव्यों, कहानियों, उपन्यासों और लेखों द्वारा जनता में देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता के भाव भरना शुरू किया।

राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना

जब भारत में हिमाचल से लेकर कन्याकुमारी और सिन्ध से लेकर ब्रह्मा तक राष्ट्रीय भावना का जागरण हो गया तो एक राजनीतिक संगठन की स्थापना की आवश्यकता अनुभव होना स्वाभाविक ही था। फलत बंगाल में सन् १८५१ में 'ब्रिटिश भारतीय सभा' (British Indian Association) की स्थापना हुई।

बम्बई तथा पूना में भी 'बाम्बे प्रेसीडेन्सी एसोसियेशन' तथा 'पूना सार्वजनिक सभा' खोली गयी। सन् १८७६ में बंगाल में श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में 'इंडियन एसोसियेशन' की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य बंगाल और सामान्यतया समस्त भारत में राजनीतिक आन्दोलन करना था। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने उत्तरी भारत में भ्रमण करके अपने ओजस्वी व्याख्यानों तथा भाषणों द्वारा राजनीतिक चेतना उत्पन्न की। सन् १८७७ में देहली में राज-दरबार हुआ। इसमें भारत के सभी प्रसिद्ध नेता तथा राजा-महाराजा सम्मिलित हुए। ऐसा कहा जाता है कि इस सुविशाल दरबार को देखकर श्रीसुरेन्द्रनाथ बनर्जी के हृदय में एक अखिल भारतीय संस्था स्थापित करने का विचार आया और जब सन् १८८३ में कलकत्ता के एलबर्ट हाल में एक राजनीतिक सम्मेलन हुआ तो उसमें श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने एक अखिल भारतीय संस्था स्थापित करने पर जोर दिया। यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि राष्ट्रीय महासभा की स्थापना के लिए सबसे पहले किसके हृदय में विचार पैदा हुआ, परन्तु यह तो निश्चित है कि देश में ऐसी संस्था की स्थापना के लिए वातावरण पहले से तैयार था। इंडियन सिविल सर्विस के अवकाश-प्राप्त सदस्य श्री एलेन ऑक्टेवियन ह्यूम ने इस दिशा में आगे पग बढाया और २३ मार्च १८८५ में पूना में प्रथम राष्ट्रीय सभा (Indian National Union) बुलायी।

राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) की स्थापना

पूना मे हैजे के प्रकोप के कारण उपर्युक्त निश्चय के अनुसार सभा न हो सकी। इसलिए प्रथम अधिवेशन बम्बई मे ता० २८ दिसम्बर १८८४ को हुआ। इसमे देश के ७२ प्रमुख नेता शामिल हुए। इस अधिवेशन मे केवल ९ प्रस्ताव स्वीकार किये गये। इन प्रस्तावो का साराश इस प्रकार है—

भारत में शासन-प्रबन्ध की जांच की जाये, भारत-मन्त्री की कौंसिल भग कर दी जाये, धारा-सभाओ मे सुधार किये जाये, आई० सी० एस० की परीक्षाएँ भारत और लन्दन मे साथ-साथ हो, सेना-व्यय मे कमी की जाये तथा भारत मे ब्रह्मा को न मिलाया जाये।

कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन कलकत्ता मे दादाभाई नौरोजी के सभापतित्व मे हुआ। इसमे ४४० प्रतिनिधि शामिल हुए। प्रारम्भ मे दो-तीन वर्षोतक सरकारी अफसर तथा अंग्रेज कांग्रेस के कार्य में सहयोग देते रहे, परन्तु बाद मे सरकारी अफसर इसके विरोधी हो गये।

बग-भग और स्वदेशी आन्दोलन

कुछ वर्षो तक कांग्रेस के कार्यक्रम मे कोई रचनात्मक प्रवृत्ति नही रही। वह एक सुधारवादी वैधानिक सस्था थी। जनता से भी उसका सम्पर्क नही के बराबर था। उसके नेता उच्च-मध्यमवर्ग के धनी और उच्च-शिक्षित जन थे। लार्ड कर्जन की दमन-नीति और बगाल के विभाजन से जनता मे असन्तोष उठ खडा हुआ। इसके फलस्वरूप जनता राजनीतिक आन्दोलन मे दिलचस्पी लेने लग गयी। पूना मे महामारी के प्रकोप के अवरोध के लिए जो उपाय काम मे लाये गये, वे इतने कठोर थे कि जनता उनके कारण बडी पीडित थी। बग-भग का उद्देश्य सरकार ने बताया यह कि इससे शासन-प्रबन्ध मे सुविधा मिलेगी, परन्तु वास्तव मे इसका उद्देश्य भारतीय राष्ट्रीय जागरण को शिथिल कर देना था।

सरकार पूर्वी बगाल मे मुसलमानो का बहुमत बनाकर एक

समूचा मुस्लिम प्रान्त बना देना चाहती थी, जिससे वे हिन्दुओं के विरुद्ध हर समय आन्दोलन में लगे रहें। १९०५ की १९ जुलाई को सरकार ने बंग-भंग का प्रस्ताव स्वीकृत किया। इसके विरोध में बंगाल में घोर आन्दोलन किया गया, परन्तु इस विरोध पर भी सरकार ने १६ अक्टूबर १९०५ को बंगाल को दो प्रान्तों में बाँट ही दिया। इसी समय बंगाल में स्वदेशी-आन्दोलन का जन्म हुआ। विलायती वस्तुओं का बहिष्कार किया जाने लगा। बंग-भंग के दो परिणाम निकले। एक तो यह कि समस्त भारत में स्वदेशी-आन्दोलन व्याप्त हो गया और दूसरा यह कि इसके गर्भ से साम्प्रदायिकता को जन्म मिला। अबतक हिन्दू-मुस्लिम नाम की कोई समस्या नहीं थी। परन्तु इसी समम से यह समस्या अपने उग्ररूप में हमारे सामने आ खड़ी हुई।

स्वराज की मॉग

सन् १९०८ में कांग्रेस का ध्येय इस प्रकार निश्चित किया गया—

'कांग्रेस का उद्देश्य भारत की जनता के लिए एक ऐसी शासन-प्रणाली की स्थापना करना है जैसी ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत उपनिवेशों में प्रचलित है। इसके साथ ही साथ ब्रिटिश साम्राज्य के दायित्वों एवं अधिकारों में समानता के साथ भाग लेना भी उसका एक उद्देश्य है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति वैधानिक उपायों द्वारा ही की जाये‥ ।'

सन् १९०६ में दादाभाई नौरोजी की अध्यक्षता में कांग्रेस ने अपना लक्ष्य 'स्वराज' की प्राप्ति घोषित कर दिया था। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के शब्द—'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है'—सारे देश में प्रतिध्वनित होने लगे। इसी समय कांग्रेस में दो दल पैदा हो गये—-नरम और गरम। जब सूरत में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो इन दोनों दलों में तीव्र मतभेद पैदा हो गया। इस अधिवेशन में गरम तथा नरम दोनों दलों में संघर्ष हो गया। लोकमान्य तिलक गरम-दल के नेता थे और सर फीरोजशाह मेहता तथा श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी नरम-दल के। नरम-दल के नेताओं ने कांग्रेस का अधिवेशन हो जाने पर एक कमेटी

बनायी जिससे काग्रेस का विधान तैयार किया गया। वैध उपायो द्वारा भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज प्राप्त करना उसका लक्ष्य निर्धारित किया गया। गरम-दल के नेता इसके विरुद्ध थे, इसलिए सन् १९१६ तक वे काग्रेस से पृथक् रहे और काग्रेस पर नरम-दल का पूरा प्रभुत्व स्थापित हो गया।

यद्यपि लार्ड कर्जन भारत से विदा हो चुके थे तो भी सरकार का दमन-चक्र पूर्ववत् चल रहा था। काग्रेस के गरम-दल के नेताओ का देश से निर्वासन किया गया और राजद्रोह के अपराध मे नेताओ को राज-बन्दी बनाया गया। इसी काल मे मिन्टो-मार्ले शासन-सुधार योजना के अनुसार भारत मे नये शासन-सुधारो को कार्यान्वित किया गया। इस योजना द्वारा सर्वप्रथम साम्प्रदायिक चुनाव-प्रणाली को स्वीकार किया गया।

राष्ट्रीय आन्दोलन

गांधी-युग का आरम्भ

सन् १९१४ मे यूरोप मे जर्मनी और ब्रिटेन मे महायुद्ध छिडा। ब्रिटिश सरकार की ओर से काग्रेस के नेताओ को यह आश्वासन दिया गया कि महायुद्ध की समाप्ति पर भारत की आकाक्षा पूरी कर दी जायेगी। इस आशा से लाखो की सख्या मे वीर भारतीयो ने यूरोप की रणभूमि मे अपने प्राणो का होम किया तथा करोडो रुपये युद्ध-सचालन के निमित्त ब्रिटिश सरकार को दिये। महात्मा गाधी स्वय युद्ध मे घायलो की सेवा के लिए गये और बारडोली तथा खेडा आदि ग्रामो मे उन्होने सेना मे भर्ती के लिए प्रचार किया। उस समय गाधीजी गाँव-गाँव मे यह सन्देश सुनाते थे कि साम्राज्य की रक्षा से ही हमे स्वराज मिलेगा।

परन्तु राजभक्ति का पुरस्कार मिला—रौलट-कानून[1] के रूप मे दमन। इस कानून का समस्त देश मे घोर विरोध किया गया।

---

१ सन् १९१५ में भारत में क्रान्तिकारी-दल ने विप्लव की एक योजना बनायी, किन्तु उसका रहस्योद्घाटन हो जाने से वह सफल न

महात्मा गांधी ने रौलट-कानून के विरोध मे सत्याग्रह-आन्दोलन शुरू किया। उनके आदेशानुसार ६ अप्रेल १९१९ को समस्त भारत में हड़ताल की गयी और सार्वजनिक उपवास रखा गया। पंजाब मे घोर दमन हो रहा था। वहांसे गांधीजी को निमंत्रण मिला। ८ अप्रैल १९१९ को जब वे मथुरा होकर रेल द्वारा पंजाब के लिए जा रहे थे, तब पलवल स्टेशन पर पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया और बम्बई ले जाकर छोड़ दिया। अमृतसर के जलियाँवाला बाग और अहमदाबाद में हत्याकांड हुए और वहाँ मार्शल-लॉ (फौजी-कानून) जारी किया गया। नेताओं और कार्यकर्ताओ की गिरफ्तारी से देश मे अशान्ति की आग सुलगती गयी।

दमन तथा शासन-सुधार

भारत मे अंग्रेजी शासन की यह एक विशेषता रही है कि वह दमन के साथ-साथ शासन-सुधार की योजनाएँ भी तैयार करके उदार-दली भारतीयो का सहयोग प्राप्त करने के लिए उद्योग करती रही है। एक ओर १३ अप्रेल १९१९ को अमृतसर के जलियाँवाला बाग में एक सार्वजनिक सभा पर, जिसमें कोई २०,००० स्त्री-पुरुष मौजूद थे, जनरल डायर ने १५० सैनिकों से गोली चलवा दी, जिसमे ४०० व्यक्ति मारे गये तथा लगभग २००० व्यक्ति घायल हुए और दूसरी ओर भारत के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड तथा भारत-मंत्री मि० माण्टेग्यू भारत मे शासन-सुधार के लिए योजना तैयार कर रहे थे।

जब अमृतसर मे दिसम्बर १९१९ में कांग्रेस का अधिवेशन होनेवाला था, तो उससे २-३ दिन पहले २४ दिसम्बर को ब्रिटिश सम्राट की ओर से भारत के शासन-विधान पर स्वीकृति के हस्ताक्षर कर दिये गये।

हो सकी। भारत सरकार ने दमन के लिए भारत-रक्षा-कानून बनाया। यह युद्ध-काल में जारी रहा और युद्ध के बाद भी इसे जारी रखा गया। स्थिति पर विचार करने के लिए जस्टिस रौलट की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की गयी जिसने यह सिफारिश की कि दमन जारी रखा जाये।

कांग्रेस के दोनो दलो में मतभेद इतना अधिक बढ गया था कि उनका मिलकर काम करना असभव था। नरम-दल के कांग्रेसी शासन-सुधारो को कार्यान्वित कर प्रान्तो मे पदग्रहण करना चाहते थे और गरम-दल इससे विरुद्ध था। अत बम्बई मे नरम-दल के लोग कांग्रेस से अलग हो गये और उन्होने उसी वर्ष कलकत्ता में अखिल भारतवर्षीय उदार-सघ (All India Liberal Federation) की स्थापना की।

असहयोग-आन्दोलन

सन् १९२० मे महात्मा गाधी ने 'असहयोग आन्दोलन' का श्रीगणेश किया। कलकत्ता-कांग्रेस ने महात्मा गाधी के नेतृत्व मे असहयोग की नीति को स्वीकार किया। विद्यार्थियो ने सरकारी स्कूलो का बहिष्कार किया, वकीलो ने न्यायालयो का बॉयकॉट किया, व्यापारियो ने विदेशी कपडो का बहिष्कार किया तथा कांग्रेस-जनो ने धारासभाओ से त्याग-पत्र दे दिये। प्रान्तीय कांग्रेस कमिटियो को अपने-अपने प्रान्त में व्यक्तिगत सत्याग्रह सचालन करने की आज्ञा मिली। सबसे पहले गुजरात के बारडोली और आनन्द स्थानो मे आन्दोलन किया गया।

इसी समय 'खिलाफत आन्दोलन' भी बडे जोर से चलने लगा। मौलाना मुहम्मदअली और मौलाना शौकतअली गाधीजी के दाहिने हाथ थे। कांग्रेस मे मुसलमानो की सख्या भी बढ गयी। १ फर्वरी १९२२ को गाधीजी ने वायसराय को इस आशय का एक पत्र लिखा कि एक सप्ताह मे सरकार अपनी नीति मे परिवर्तन कर दे अन्यथा बारडोली में सत्याग्रह किया जायेगा। यह पत्र वायसराय के पास नही पहुँचा कि गोरखपुर मे चौरीचौरा की दुर्घटना से सारे देश मे क्षोभ पैदा होगया। चौरीचौरा के पुलिस थाने पर कांग्रेस-भीड ने आक्रमण करके उसमे आग लगादी। १३ मार्च १९२२ को गाधीजी गिरफ्तार कर लिये गये। उनपर राजद्रोह का अभियोग लगाया गया और उन्हे ६ वर्ष कैद की सजा दी गयी। इसके बाद कांग्रेस-आन्दोलन मे शिथिलता आगयी और कांग्रेस-जन कौंसिल-प्रवेश के लिए लालायित हो उठे।

स्वराज-दल का जन्म

दिसम्बर १९२२ में गया में देशबन्धु श्री चित्तरजन दास के सभापतित्व में काग्रेस का अधिवेशन हुआ। काग्रेस में इस समय दो दल थे—एक परिवर्तनवादी और दूसरा अपरिवर्तनवादी।

परिवर्तनवादी काग्रेस की नीति और कार्यक्रम मे परिवर्तन चाहते थे। वे काग्रेस द्वारा कौसिल-प्रवेश का कार्यक्रम स्वीकार कराने के पक्ष में थे। स्वर्गीय श्री चित्तरजनदास, प० मोतीलाल नेहरू, श्री श्रीनिवास अयगार, हकीम अजमल खाँ, श्री विट्ठल भाई पटेल आदि परिवर्तनवादी थे और श्री राजगोपालाचार्य, डा० अन्सारी आदि नेता अपरिवर्तनवादी थे। गया-काग्रेस मे पिछले दल का वहुमत था। इसलिए कौसिलवादियो की इसमें पराजय हुई। सितम्बर १९२३ मे मौलाना अवुलकलाम आजाद के सभापतित्व मे देहली में काग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ जिसमे कौसिल-प्रवेश का कार्य-क्रम स्वीकार किया गया। इस प्रकार काग्रेस के अन्तर्गत स्वराज-दल की स्थापना की गयी। काग्रेसवादी प्रान्तीय तथा केन्द्रीय धारासभाओ मे सदस्य चुने गये। वगाल की धारा-सभा मे देशवन्धु चित्तरजनदास के नेतृत्व मे स्वराज-दल ने कार्य किया। केन्द्रीय धारासभा मे प० मोतीलाल नेहरू स्वराज-दल के नेता चुने गये। इस प्रकार अगले सत्याग्रह (१९३०) तक काग्रेसवादी सदस्य कौसिलो के भीतर कार्य करते रहे। वे असहयोग की जिस नीति को स्वीकार करके कौसिलो मे गये उसका पालन न कर सके। इसमे शक नही कि विरोधी दलो के रूप में इन्होने अवरोध-नीति का काफी प्रयोग किया।

सन् १९२७ मे ब्रिटिश पार्लिमेंट ने भारतीय शासन-सुधारो की जाँच के लिए एक शाही कमीशन सर जान साइमन की अध्यक्षता में नियुक्त किया जिसमे ७ अग्रेज सदस्य थे। इसमे एक भी भारतीय सदस्य नियुक्त नही किया गया। अत काग्रेस ने कमीशन का पूर्ण वहिष्कार किया। इसमे काग्रेस को पूरी सफलता मिली।

पूर्ण स्वराज की ओर

मद्रास-कांग्रेस के प्रस्तावानुसार कांग्रेस कार्य-समिति ने भारत के
ए शासन-विधान बनाने के निमित्त एक सर्व-दल सम्मेलन (All
arties' Conferenec) आमन्त्रित किया। फलत फर्वरी १९२८ मे
ारत के सभी दलो का सम्मिलित अधिवेशन हुआ जिसमे निश्चय किया
या कि भारत मे उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए शासन-विधान
ी रचना की जाये। मई १९२८ मे बम्बई मे सम्मेलन का दूसरा अधि-
शन हुआ जिसने प० मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता मे विधान की रूप-
खा बनाने के लिए एक समिति नियुक्त की। इसने अगस्त १९२८ मे
अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। यह रिपोर्ट 'नेहरू-रिपोर्ट' के नाम से प्रसिद्ध
है। लखनऊ के सर्वदल सम्मेलन के तीसरे अधिवेशन मे वह स्वीकृत
हुई। कलकत्ता मे समस्त राजनीतिक दल, व्यापारिक तथा मज
दूर-सघ विधान-निर्मात्री परिषद् (Constituent Assembly) के रूप
मे सम्मिलित हुए और एक प्रस्ताव द्वारा 'नेहरू-रिपोर्ट' को शासन-विधान
के रूप मे स्वीकार किया गया। परन्तु साम्प्रदायिक प्रश्न पर अन्तिम
रूप से निर्णय न हो सका।

दिसम्बर १९२८ मे कलकत्ता मे प० मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता
मे कांग्रेस हुई। इसमे पूर्ण स्वराज तथा औपनिवेशिक स्वराज के प्रश्न
पर बड़ा वादविवाद हुआ। प० जवाहरलाल नेहरू तथा श्री सुभाषचन्द्र
पूर्ण स्वराज के पक्ष मे थे और प० मोतीलाल नेहरू औपनिवेशिक
स्वराज के पक्ष मे। अन्त मे एक प्रस्ताव द्वारा यह निश्चय किया गया
कि ब्रिटिश सरकार 'नेहरू रिपोर्ट' को ३१ दिसम्बर १९२९ तक स्वीकार
न करे तो कांग्रेस अपना ध्येय 'पूर्ण स्वराज' घोषित कर देगी। ३१
दिसम्बर १९२९ तक ब्रिटिश सरकार ने 'नेहरू-रिपोर्ट' को स्वीकार नही
किया। प० जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व मे लाहौर-कांग्रेस मे 'पूर्ण
स्वराज' का प्रस्ताव स्वीकार किया गया।

सत्याग्रह-आन्दोलन

सन् १९३० की २६ जनवरी को कांग्रेस की ओर से देशभर मे

'स्वाधीनता-दिवस' मनाया गया। इस अवसर पर सार्वजनिक सभाओं में एक प्रतिज्ञा पढ़ी गया। तबसे प्रति वर्ष यह राष्ट्रीय दिवस मनाया जाता है। कार्य-समिति ने १७ फरवरी १९३० को सत्याग्रह-आन्दोलन शुरू करने का निश्चय किया। गांधीजी संचालक नियुक्त हुए। मार्च १९३० को महात्मा गांधी ने वायसराय लार्ड इर्विन के समक्ष अपने पत्र में निम्नलिखित ११ मांगें रखीं मादक-द्रव्य-निषेध, एक रुपया १६ पेंस के बराबर माना जाये; मालगुजारी में ५०% कमी की जाये, सरकारी कर्मचारियों के वेतनों में ५०% कमी हो, सामुद्रिक तटकर-संरक्षण कानून बनाया जाये, राजनीतिक बन्दियों को रिहा कर दिया जाये, सन् १८१८ के रेग्यूलेशन ३ तथा दण्ड-विधान की धारा १२४ अ (राजद्रोह) को रद्द कर दिया जाये, निर्वासित भारतीयों को भारत में आने की आज्ञा दी जाये, खुफिया विभाग या तो बन्द कर दिया जाये या भारतीय मन्त्रियों के नियन्त्रण में कर दिया जाये, स्वदेशी वस्त्र-व्यवसाय के संरक्षण के लिए विदेशी वस्त्र-व्यवसाय पर अधिक कर लगाया जाये, आत्म-रक्षा के निमित्त अस्त्र-शस्त्रों के रखने की आज्ञा दी जाये।

वायसराय ने इन मांगों में से एक को भी स्वीकार नहीं किया। अतः १२ मार्च १९३० को गांधीजी ने नमक-कानून भंग करके सत्याग्रह आरम्भ कर दिया।

यह सत्याग्रह-आंदोलन पूरे एक वर्ष तक जारी रहा। इसमें हजारों की संख्या में कांग्रेसवादियों को जेल-यात्रा करनी पड़ी। अन्त में सर तेजबहादुर सप्रू तथा श्री मुकुन्दराव जयकर के प्रयत्नों से लार्ड इरविन और गांधीजी में ५ मार्च १९३१ को समझौता हो गया। इसे 'गांधी-इर्विन समझौता' कहा जाता है। इसके अनुसार सत्याग्रह स्थगित कर दिया गया, ब्रिटिश मालका बहिष्कार बन्द कर दिया गया, कांग्रेस कानूनी संस्था घोषित कर दी गयी, समस्त कांग्रेसी बन्दी रिहा कर दिये गये, व्यक्तिगत उपयोग के लिए नमक बनाने की सुविधा मिल गयी, परन्तु नमक-कर कायम रहा।

गोलमेज-परिषद्

गांधी-इर्विन समझौते का भंग कई प्रान्तों में किया गया। कांग्रेस ने

सरकार पर इसका दोषारोपण किया और सरकार ने कांग्रेस पर। अन्त में महात्मा गांधी, प० मदनमोहन मालवीय तथा श्रीमती सरोजिनी नायडू के साथ गोलमेज-परिषद (लन्दन) में कांग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से भाग लेने गये।

जब २८ दिसम्बर १९३१ को वह वापस आये तो भारत की स्थिति बहुत ही नाजुक थी। किसानों में भारी संकट पैदा होगया था। महात्माजी के भारत आने से ५ दिन पूर्व ही प० जवाहरलाल नेहरू, श्री तसद्दुक अहमद शेरवानी तथा श्री पुरुषोत्तमदास टंडन गिरफ्तार कर लिये गये। सीमाप्रान्त में खुदाई खिदमतगार नेता खान अब्दुलगफ्फार खाँ और डा० खानसाहब भी गिरफ्तार किये जा चुके थे। जब गांधीजी भारत में आये तो उन्होंने वायसराय लार्ड विलिंगडन से भेंट करने के लिए आज्ञा मांगी, परन्तु उन्हें आज्ञा नहीं मिली। ४ जनवरी १९३२ को महात्माजी को भी राजबन्दी बना लिया गया।

ऐतिहासिक उपवास

१७ अगस्त १९३२ को ब्रिटिश प्रधान-मन्त्री स्वर्गीय श्री रेमजे मैकडानल्ड ने अल्प-संख्यक जातियों के प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में अपना 'साम्प्रदायिक निर्णय (Communal Award) प्रकाशित कर दिया। गोलमेज परिषद में महात्माजी अपने एक भाषण में यह कह चुके थे कि यदि दलित जातियों को पृथक् निर्वाचन दिया गया तो मैं अपने प्राणों की आहुति देकर भी उसका विरोध करूँगा। इस निर्णय में दलित जातियों के लिए 'विशेष निर्वाचन-पद्धति' निर्धारित की गयी, जिसके अनुसार दलित जातियों के मतदाताओं को अपने निर्वाचन-क्षेत्र में अपने उम्मीदवारों को चुनने का अधिकार दिया गया और साथ ही उन्हें हिन्दुओं के चुनाव में मत देने और खड़े होने का भी अधिकार दिया गया।

गांधीजी ने इस निर्णय की दलित जातियों-सम्बन्धी चुनाव-व्यवस्था के विरोध में यरवदा जेल से २० सितम्बर १९३२ को उपवास आरम्भ

किया। उनकी जीवन-रक्षा के लिए देश भर में प्रार्थनाएँ की गयीं तथा वम्बई और पूना में दलित जातियों तथा हिन्दू नेताओं का सम्मेलन हुआ जिसके अध्यक्ष प० मदनमोहन मालवीय थे। इसमें परस्पर दोनों पक्षों मे समझौता हो गया और २५ सितम्वर को गाधीजी ने व्रत छोडा। इसके वाद गाधीजी यरवदा जेल से 'हरिजन-आन्दोलन' का सचालन करने लगे।

८ मई १९३३ मे गाधीजी ने पुन आत्म-शुद्धि के लिए व्रत रखा। गाधीजी जेल से मुक्त कर दिये गये। मुक्ति के वाद गाधीजी ने राष्ट्रपति से यह सिफारिश की कि सत्याग्रह-आन्दोलन १½ मास के लिए स्थगित कर दिया जाये। अत आन्दोलन स्थगित हो गया।

१२ जुलाई १९३३ को पूना मे काग्रेस-जनों का एक सम्मेलन स्थिति पर विचार करने के लिए हुआ। इसमें यह निश्चय किया गया कि समझौते के लिए गाधीजी वायसराय से मिले। परन्तु वायसराय ने इसे स्वीकार नही किया। १ अगस्त को गाधीजी ने पुन रास गाँव में सत्याग्रह करने का विचार किया। परन्तु वह पहले ही गिरफ्तार कर लिये गये। ४ अगस्त १९३३ को वह छोड दिये गये और उन्हे कहा गया कि यरवदा से वाहर रहे। गाधीजी ने यह आज्ञा नहीं मानी, अत उन्हे ½ टे में फिर गिरफ्तार कर लिया गया और १ वर्ष की सजा दी गयी। जेल मे हरिजन-कार्य सम्वन्वी सुविधाओं के न मिलने पर उन्होंने फिर १६ अगस्त से व्रत रखा। २३ अगस्त को उनकी हालत वहुत नाजुक हो गयी, और उन्हे मुक्त किया गया। तव उन्होंने यह प्रण किया कि मैं ४ अगस्त १९३४ तक कोई ऐसा कार्य नही करूँगा जिससे जेल जाना पडे। तवसे वह अपना सारा समय हरिजन-सेवा मे लगाने लगे।

विधानवाद की ओर

देहली में ३१ मार्च १९३४ को डा० असारी के सभापतित्व में काग्रेस-जनों का एक सम्मेलन हुआ, जिसमें यह स्वीकार किया गया कि स्वराज-दल की पुन स्थापना की जाये। यह भी निश्चय किया गया कि

केन्द्रीय धारासभा के चुनावो मे भाग लिया जाये । मई १९३४ मे रांची मे काग्रेसवादियो का एक दूसरा सम्मेलन हुआ। इसमे पहले सम्मेलन के प्रस्तावो को स्वीकार किया गया । १८ व १९ मई १९३४ को पटना मे काग्रेस-कार्य-समिति और अखिल भारतवर्षीय काग्रेस कमेटी के अधिवेशन हुए, जिनमे सत्याग्रह-आन्दोलन को स्थगित करने तथा कौसिल-प्रवेश का कार्यक्रम स्वीकार करने के सम्बन्ध मे प्रस्ताव स्वीकार किये गये ।

तदनुसार दिसम्बर १९३४ मे काग्रेस ने केन्द्रीय चुनावो मे भाग लिया और उसे आशातीत सफलता मिली ।

नया शासन-विधान और काग्रेस

सन् १९३५ मे जो नया शासन-विधान बनाया गया था उसे कार्यान्वित करने के लिए तैयारियाँ होने लगी । सन् १९३६ के नवम्बर मास से ही चुनाव-सग्राम शुरू हो गया । भारत के ११ प्रान्तो मे से ७ मे धारासभाओ के चुनावो मे काग्रेस सफल हुई ।

सयुक्तप्रान्त, बम्बई, मध्यप्रान्त, मद्रास, बिहार, उडीसा मे और बाद मे सीमा-प्रान्त मे काग्रेस का बहुमत हो गया । इन प्रान्तो मे काग्रेस शासन-भार को ग्रहण करने मे समर्थ थी । अत काग्रेस मे दो प्रकार के दल पैदा हो गये । एक दल मन्त्रि-पद ग्रहण करने के पक्ष मे था और दूसरा इसके विरुद्ध ।

जब दिल्ली मे अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी मे पद ग्रहण के प्रश्न पर विचार किया गया, तो ऐसा प्रतीत होता था कि इस विषय पर काग्रेस में तीव्र मतभेद हो जायेगा, परन्तु महात्मा गाधी ने पद-ग्रहण का प्रस्ताव अपने प्रभाव से इस शर्त के साथ स्वीकार करा लिया, कि गवर्नर अपने विशेषाधिकारो को प्रयोग न करने का आश्वासन दे दे । ऐसा आश्वासन न मिलने के कारण, काग्रेस ने ३ मास तक मन्त्रिमण्डल नही बनाये । अन्त मे स्थिति का स्पष्टीकरण हो जाने पर जुलाई १९३७ मे ६ प्रान्तो मे काग्रेस के मन्त्रि-मण्डल बने, बाद मे

सीमाप्रान्त और आसाम मे भी मन्त्रि-मण्डल वनाये गये। इस प्रकार ८ प्रान्तो मे काग्रेस का शासन स्थापित हो गया।

काग्रेस सघ-शासन का विरोध तथा विधान का अन्त करने के लिए धारा-सभाओ में गयी थी। इस कार्य में उसे कहाँ तक सफलता मिली, यह नही कह. जा सकता, परन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नही कि कौंसिलों में जाकर काग्रेस अपने वास्तविक कार्यक्रम और लक्ष्य से दूर हटकर 'शासन-सचालन' मे तल्लीन हो गयी। हाँ, कुछ रचनात्मक कार्य अवश्य आरम्भ हुआ, जिससे कई लोकोपकारी सुधार हुए—मादक द्रव्य-निषेध, ग्राम-सुधार, जेल-सुधार तथा शिक्षा-सुधार।

कांग्रेस मन्त्रि-मण्डलों का पद-त्याग

१ सितम्बर १९३९ को यूरोप में इग्लैण्ड और जर्मनी में महायुद्ध छिड गया। भारत के वायसराय ने यह घोषणा कर दी कि इस यूरोपीय युद्ध में भारत भी ब्रिटेन के साथ है। ऐसी घोषणा करने का विधान के अनुसार वायसराय को पूरा अधिकार था। परन्तु कानूनी दृष्टि से अधिकार होने पर भी नैतिक दृष्टि से यह उचित था कि भारत को युद्ध में सम्मिलित करने से पहले भारतीय नेताओ से परामर्श किया जाता। इस स्थिति से भारतीय लोकमत वडा विक्षुब्ध हो गया और काग्रेस भारत-सरकार की इस नीति से असन्तुष्ट हो गयी।

१८ सितम्बर १९३९ को काग्रेस कार्य-समिति ने एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया। इसमे काग्रेस ने अग्रेज सरकार से कहा कि वह युद्ध और शान्ति के उद्देश्यो की घोषणा करे। यदि यह युद्ध वास्तव में प्रजातन्त्र और स्वाधीनता की रक्षा के लिए है, तो क्या ब्रिटिश-सरकार इन सिद्धान्तो को भारत में भी लागू करना चाहती है? इस घोषणा का सरकार ने कोई सन्तोषप्रद उत्तर नही दिया।

काग्रेस की ओर से यह स्पष्ट कर दिया गया कि काग्रेस पूर्ण स्वाधीनता चाहती है अत भारत को स्वाधीन राष्ट्र घोषित कर दिया जाये। भारत का शासन-विधान-निर्माण करने का अधिकार वयस्क

मताधिकार द्वारा चुनी हुई विधान-निर्माणी-परिषद् (Constituent Assembly) को ही होना चाहिए।

ब्रिटिश सरकार ने भारत मे 'औपनिवेशिक स्वराज' की स्थापना को अपना अन्तिम लक्ष्य घोषित कर दिया है, जैसा कि वह पिछली बार भी कई बार घोषित कर चुकी है। उसने इस बार यह और जोड दिया है कि औपनिवेशिक स्वराज शीघ्र से शीघ्र दिया जायेगा और वह सन् १९३० के वेस्टमिस्टर-कानून (Westminster Statute) के ढग का होगा। परन्तु अभी तक पार्लिमेट ने इस सम्बन्ध मे कोई घोषणा नही की। यह भी निश्चय-पूर्वक नही कहा गया है कि औपनिवेशिक स्वराज कब स्थापित किया जायेगा ?

८ अगस्त १९४० को वायसराय ने जो घोषणा की, उससे स्थिति मे परिवर्तन नही हुआ। इस प्रकार भारत की इस वैधानिक समस्या को सुलझाने का लगातार दोनो ओर से प्रयत्न किया गया, परन्तु इसमे सफलता नही मिली।

युद्ध-विरोधी सत्याग्रह

समझौते के लिए एक साल तक घोर प्रयत्न करने के बाद महात्मा गाधी ने प्रकट किया कि जब आज स्वयम् इग्लैण्ड सकट मे है, तो भारत को उससे अपनी स्वाधीनता मॉगना उचित नही है। एक भाषण मे गाधीजी ने स्पष्ट शब्दो मे यह भी कहा कि स्वाधीनता मॉगने से प्राप्त नही की जा सकती। उसके लिए शक्ति की आवश्यकता है।

तदनुसार स्वाधीनता के प्रश्न को अलग रखकर उन्होने भाषण-स्वातन्त्र्य के प्रश्न पर अक्तूबर १९४० मे देशव्यापी व्यक्तिगत सत्याग्रह आरम्भ किया। गाधीजी तथा कांग्रेस, जिसके वह अधिनायक है, वर्तमान युद्ध मे इग्लैंड को सहायता नही देना चाहती। साथ ही गाधीजी इस युद्ध मे ब्रिटेन की हार भी नही चाहते। वह ब्रिटेन के युद्ध-प्रयत्न मे किसी प्रकार की बाधा डालना नही चाहते। परन्तु वर्तमान युद्ध मे भारत का भाग लेना या सहायता देना अनैतिक और हिंसात्मक मानते है। उनके

द्वारा सचालित इस सत्याग्रह-आन्दोलन मे सत्याग्रहियो ने युद्ध-विरोधी नारा लगाकर सत्याग्रह किया और जेल गये ।

मुस्लिम लीग की राजनीति

इसमे थोडा भी शक नही कि भारतीय राष्ट्रीय-जीवन को विषैला वनाने म सवसे अधिक काम साम्प्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली ने किया है । सन् १९०९ मे ब्रिटिश सरकार ने भारत मे मुसलमानो की पृथक चुनाव की माँग को मजूर कर वास्तव म एक वडी भारी भूल की और सवसे भयकर भूल तो काग्रेस ने की—जव सन् १९१६ में उसने लखनऊ-पैक्ट को स्वीकार करके साम्प्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली को भी स्वीकार कर लिया ।

काग्रेस की दुर्वल नीति तथा काग्रेस-मन्त्रि-मण्डलो की मुस्लिम-पक्षीय नीति ने अखिल-भारतीय मुस्लिम लीग और उसके सर्वेसर्वा श्री मुहम्मदअली जिन्ना को एक शक्तिशाली व्यक्तित्व और सत्ता प्रदान कर दी । आज भारत की मुस्लिम राजनीति पर उनका प्रभाव है, चाहे मुस्लिम जनता पर उनका प्रभाव भले ही न हो । 'प्रजातन्त्र' अध्याय मे कहा जा चुका है कि मुस्लिम लीग ने उनके सभापतित्व में मार्च १९४० के लाहोर-अधिवेशन तथा अप्रैल १९४१ के मद्रास-अधिवेशन मे 'पाकिस्तान का नारा लगाया है और आज वह भारत मे पाकिस्तान' की स्थापना के लिए प्रयत्नशील है ।

सकीर्ण साम्प्रदायिकता के फलस्वरूप ही सन् १९४१ के अप्रैल मास से पूर्व जिस मुस्लिम लीग का लक्ष्य भारत में पूर्ण स्वाधीनता की स्थापना करना था उसीका लक्ष्य उस वर्ष से भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना हो गया है ।

इसमें सन्देह नही कि 'पाकिस्तान'-योजना का एक स्वर से सभी हिन्दुओं, काग्रेस-जनो, सिक्खो तथा ईसाइयो ने विरोध किया है । भारत की दलित जातियाँ भी उसके विरुद्ध हैं । अप्रैल १९४० मे दिल्ली में 'अखिल भारतीय आजाद-मुस्लिम-सम्मेलन' ने भी 'पाकिस्तान' का घोर विरोध किया ।

इस सम्मेलन मे मुसलमानो की प्रमुख प्रभावशाली सस्थाओ ने भाग लिया जिनमे निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय है—(१) मजलिसे अहरार (२) जमीयत-उल्-उलेमा-ए-हिन्द (३) बिहार मुस्लिम स्वतन्त्र दल (४) अजुमन ए-वतन (५) अखिल भारतीय मोमिन सम्मेलन (६) राष्ट्रीय मुस्लिम।

इसमे शक नही कि भारत की वैधानिक उलझन के समाधान मे साम्प्रदायिक समस्या एक बडी भारी अडचन है। इसके समाधान पर ही भारत का भविष्य निर्भर है।

नरम-दल की राजनीति

आज से बीस वर्ष पूर्व भारत मे पुराने नरम-दली काग्रेसजनो ने त्याग-पत्र देकर अखिल-भारतीय उदार-सघ की स्थापना की।

यह उदार-सघ भारत के उच्चशिक्षित, सुसस्कृत तथा अर्द्ध-सरकारी पूंजीपतियो का सघ है। इसका सगठन काग्रेस-जैसा नही है, बल्कि उच्चकोटि के नेताओ का एक सघ है जिसका जनता से कोई सम्पर्क नही है। यही कारण है कि प्रान्तीय धारा-सभाओ मे इसका कोई प्रतिनिधित्व नही है। हाँ, केद्रीय व्यवस्थापक-मण्डल—लेजिस्लेटिव असेम्बली तथा कौसिल आव स्टेट (जो माटेग्यू-चेम्सफोर्ड की योजना के अनुसार बनायी गयी थी) मे इनके कुछ सदस्य है। इस सघ के प्रसिद्ध नेताओ मे सर तेजबहादुर सप्रू, प० हृदयनाथ कुजरू, माननीय प्रकाशनारायण सप्रू, सर जहाँगीर, सर चिमनलाल सीतलवाद, माननीय श्रीनिवास शास्त्री आदि प्रमुख है। इसका न कोई आर्थिक कार्यक्रम है न सामाजिक। इसका राजनीतिक लक्ष्य है—भारत मे भारतवासियो के लिए औपनिवेशिक स्वराज प्राप्त करना। सीधी कारवाई से लिबरल लोग अलग रहते है। इसीलिए ये केवल प्रस्तावो द्वारा सरकार की नीति की आलोचना करने मे ही सन्तुष्ट हो लेते है और उसके साथ सहयोग के लिए हर हालत मे तैयार रहते है। ये स्वाधीन [illegible] ([illegible]) की रक्षा तथा [illegible] ([illegible]) को ज्यो-का-त्यो कायम रखने के पक्ष मे है।

[illegible]रा रद्द न करदी गयी हो, १० वर्ष तक कायम रहेगी।

६. सुरक्षित स्थानों के लिए दलित-वर्ग के लिए निर्वाचन-प्रणाली, जिसका उल्लेख धारा १ से ४ तक है, उस समय तक जारी रहेगी जब-तक कि परस्पर समझौते द्वारा उसका अन्त न कर दिया जाये।

७ प्रान्तीय तथा केन्द्रीय धारासभाओं में दलित-वर्ग के लिए मताधिकार लोथियन रिपोर्ट के अनुसार होगा।

८ किसी भी व्यक्ति को केवल दलित-समुदाय का सदस्य होने के कारण स्थानीय बोर्डों के चुनावों में खड़ा होने या सरकारी नोकरियों में भर्ती होने के अयोग्य न माना जायेगा। इन दोनों में दलित-वर्ग के पर्याप्त प्रतिनिधित्व के लिए प्रयत्न किया जायेगा, परन्तु प्रत्येक नोकरी के लिए निर्धारित योग्यता आवश्यक होगी।

९ प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा के लिए स्वीकृत कोष में से यथेष्ट धन दलित-वर्ग की शिक्षा के लिए निर्धारित कर दिया जायेगा।

पूना-समझौते की उपर्युक्त धाराओं पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसके मुख्य उद्देश्य दो हैं। पहला तो यह कि सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से पिछड़े हुए दलित-वर्ग की उन्नति के लिए पर्याप्त संरक्षण और सुविधाएं मिलें और दूसरा यह कि दलित-वर्ग हिन्दू समाज से अभिन्न बन जाये।

इसमें सन्देह नहीं कि नये शासन-विधान में धारासभाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिलने के कारण इन जातियों को अपनी उन्नति के लिए [illegible] मिला परन्तु वे उनसे वास्तविक लाभ न उठा सके। [illegible], समाज-नीति की भांति, राजनीतिक दलों के शोषण [illegible]। वे ग्रामों में जमींदारों के आतंक के कारण अपने [illegible] सके। भारत में उनके कुल [illegible] सदस्यों [illegible] शेष सभी या तो निर-[illegible] निर्वाचन क्षेत्र से सुयोग्य कार्यकर्ता [illegible] थे, परन्तु ऐसा नहीं [illegible]।

यद्यपि मद्रास, सयुक्तप्रान्त, बिहार—इन तीनो प्रान्तो में दलित-वर्ग के काग्रेसी सदस्यो का बहुमत है, तो भी इन प्रान्तो के दलित-समुदाय की जनता मे काग्रेस के सदस्य बहुत ही कम हैं। काग्रेसी उम्मीदवार के लिए मत प्राप्त कर लेना दूसरी बात है। यही कारण है कि अखिल भारतीय काग्रेस कमेटियो में भी इनके बहुत ही कम सदस्य हैं—शायद उगलियो पर गिनने लायक। इसका मुख्य कारण यह है कि अभी तक इन जातियो ने काग्रेस के सन्देश को ग्रहण नही किया है।

दलित जातियो का कोई अखिल भारतवर्षीय दृढ और देशव्यापी सगठन नही है। इनके सुधार के लिए जो कुछ कार्य हो रहा है, वह प्रान्तीय आधार पर ही हो रहा है। प्रत्येक प्रान्त मे अलग-अलग सगठन है। आवश्यकता है अन्तर्प्रान्तीय सगठन की।

दलित जातियो मे प्रभावशाली नेतृत्व का भी अभाव तो है ही, पर उच्च शिक्षाका अभाव, आर्थिक कठिनाइयाँ, उच्च सस्कृति तथा प्रगतिशील विचार धारा का अभाव भी इनकी अवनति का एक मूल कारण है। इनके अतिरिक्त दलित जातियो पर ग्रामो मे बडे भीषण और अमानुषिक अत्याचार किये जाते हैं।

दलित जातियाँ, हिन्दू-समाज का ही अग है, इसलिए हमारा कर्तव्य है कि सामाजिक दृष्टि से इनकी समस्या के समाधान के लिए प्रयत्न किया जाये। केवल राजनीतिक दृष्टि से इन्हे हिन्दू समाज का अग मान लेने से न तो इनका कल्याण हो सकेगा और न वे राष्ट्र के उपयोगी अग ही बन सकेगे।

सहायक ग्रन्थों की सूची

अंग्रेजी

1 Atharvaveda Harward Oriental Series.
2 Old Testament (Bible)
3 G D H Cole Review of Europe to-day (1933).
4 Leonard Woolf Intelligent Man's Way to Prevent War (1933)
5 A Drault Social and Political Problems at the end of the 19th century
6 Ramsay Muir Nationalism and Internationalism
7 Beni Prasad The State in Ancient India
8 Beni Prasad Theory of Government in Ancient India.
9 K P Jayaswal Hindu Polity
10 Freda and Bedi India Analysed, Vol I
11 W B Curry The Case for Federal Union.
12 B Mussolini The Political and Social Doctrine of Fascism in Encyclopaedia Italiana (1932)
13 M K Gandhi Mahatma Gandhi's Speeches and Writings
14 Hobhouse Elements of Social Justice
15 H J Laski Liberty in the Modern State (1937).
16 K T Shah Federal Structure (1938).
17 Shrinivas Iyengar The Problem of Democracy in India (1939)
18 James Bryce Modern Democracies
19 K M Panikkar Hinduism and the Modern World
20 Prof Wadia Contemporary Indian Philosophy
21 B R Ambedkar Annihilation of Caste
22 D F Mulla Principles of Mohammadan Law
23 B P Sitaramayya History of the Congress
24 Hitler My Struggle

25 The Harijan, Poona.
26. The Leader (19 6 1941)
27 The Hindustan Review (July 1934).
28, The Indian Information (Government of India, New Delhi)
29 League of Nations' Statute of Court
30 League of Nations' Statistical Year Book, 1930-31
31 The Constitution of Socialist Soviet Russia

हिन्दी

१ जवाहरलाल नेहरू मेरी कहानी
२ मोहनदास करमचन्द गांधी हिन्द-स्वराज
३ रामदास गौड हमारे गाँवों की कहानी
४ महाभारत
५ बेनीप्रसाद नागरिक-शास्त्र
६ सर्वपल्ली राधाकृष्णन् गांधी अभिनन्दन-ग्रन्थ
७ हरिभाऊ उपाध्याय स्वामीजी का बलिदान और हमारा कर्त्तव्य
८ नान्हालाल चमनलाल मेहता भारतीय चित्रकला
९ भगवानदास केला नागरिक-शास्त्र
१० मो० क० गांधी हमारा कलंक
११ रामनारायण यादवेन्दु राष्ट्रसंघ और विश्व-शान्ति
१२ रामनारायण यादवेन्दु भारतीय शासन-विधान
१३ वर्धा-शिक्षा-समिति की रिपोर्ट
१४ 'सरस्वती' (जनवरी, १९३७), प्रयाग
१५ 'हरिजन-सेवक', पूना
१६ 'विश्वमित्र' (अगस्त १९४०), कलकत्ता
१७ 'कर्मयोगी' (जनवरी, १९३७), प्रयाग

९२	ब्रह्मचर्य	महात्मा गाधी	॥)
९३	हमारे गाँव और किसान	मुख्तारसिंह	॥)
९४.	गाधी-अभिनन्दन ग्रन्थ	सर्वपल्ली राधाकृष्णन्	१॥), २)
९५	हिन्दुस्तान की समस्याएँ	जवाहरलाल नेहरू	१)
९६	जीवन-सन्देश	खलील जिब्रान	॥)
९७.	समन्वय	भगवान्दास	२)
९८	समाजवाद पूँजीवाद	बर्नार्ड शॉ	॥।)
९९	मेरी मुक्ति की कहानी	म० टॉलस्टॉय	॥)
१००	खादी मीमासा	बालूभाई मेहता	१॥)
१०१	बापू	घनश्यामदास बिडला	॥=), २)
१०२	मधुकर	विनोबा	१)
१०२	लडखडाती दुनिया	जवाहरलाल नेहरू	१)
१०४	सेवाधर्म सेवामार्ग	कृष्णदत्त पालीवाल	१)
१०५	दुनिया की शासन-प्रणालियाँ	रामचन्द्र वर्मा	१॥)
१०६	डायरी के पन्ने	घनश्यामदास बिडला	॥।), १)
१०७	तीस दिन मालवीयजीके साथ	रामनरेश त्रिपाठी	२)
१०८	युद्ध और अहिंसा	महात्मा गाधी	॥।)
१०९	महावीर वाणी	बेचरदास दोशी	१॥)
११०.	भारतीय सस्कृति	रामनारायण यादवेन्दु	१)
१११	बिखरे विचार	घनश्यामदास बिडला	॥।)
११२	अहिंसा-विवेचन	किशोरलाल मशरूवाला	॥।)

नवजीवन-माला

१	गीता-बोध २ मगलप्रभात	म० गाधी	-) -)
३	अनासक्तियोग म० गाधी	सादी =) श्लोक सहित ≡) सजिल्द	।)
४	सर्वोदय	,,	-)
५	नवयुवकों से दो बातें	प्रिंस क्रोपाटकिन	-)
६.	हिन्द-स्वराज्य	म० गाधी	=)
७	छूतछात की माया		-)

८. किसानों का सवाल	जेड ए. अहमद	=)
९. ग्राम-सेवा	म० गाधी	=)
१०. खादी और गादी की लडाई	विनोबा	=)
११ मधुमक्खी पालन		=)
१२. गांवो का आर्थिक सवाल		≡)
१३ राष्ट्रीय गीत		=)
१४ खादी का महत्व	गुलजारीलाल नन्दा	-)॥
१५ जब अग्रेज नही आये थे		≡)
१६ सोने की माया	किशोरलाल मशरूवाला	-)
१७. सत्यवीर सुकरात	म० गाधी	-)

सामयिक साहित्य माला

१ काग्रेस-इतिहास	(१९३५–१९३९)	।-)
२ दुनिया का रगमच	जवाहरलाल नेहरू	=)
३ हम कहां है ?	,,	=)
४ युद्ध-सकट और भारत : म० गाधी, राष्ट्रपति आदि के वक्तव्य		।)
५ सत्याग्रह क्यो, कब और कैसे ?	म० गाधी	≡)
६ राष्ट्रीय पचायत	महात्माजी, जवाहरलाल नेहरु, राजाजी	।)
७ देशी राजाओ का दरजा	प्यारेलाल	।)
८ यूरोपीय युद्ध और भारत	म० गाधी, जवाहरलाल	।)
९. रचनात्मक कार्य-क्रम	म० गाधी	=)

विविध प्रकाशन

१ पण्डित मोतीलाल नेहरू	रामनाथ 'सुमन'	।)
२ पण्डित जवाहरलाल नेहरू	,,	=)
३. सप्त सरिता	काका कालेलकर	=)
४ चारा दाना और उसके खिलाने के उपाय	परमेश्वरीप्रसाद गुप्त	≡)
५ पशुओ का इलाज	परमेश्वरीप्रसाद गुप्त	॥)
६ उपनिषदो की कथाएँ	शकर दत्तात्रेय देव	।)
७ आदर्श बालक	चतुरसेन शास्त्री	॥।